अथ द्वादशसमुल्लासारम्भः

अथ नास्तिकमतान्तर्गतचारवाकबौद्धजैनमत-
खण्डनमण्डनविषयान् व्याख्यास्यामः

कोई एक बृहस्पति नामा पुरुष हुआ था जो वेद, ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था। उन का मत—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

कोई मनुष्यादि प्राणी मृत्यु के अगोचर नहीं है अर्थात् सब को मरना है इसलिये जब तक शरीर में जीव रहै तब तक सुख से रहै। जो कोई कहे कि धर्माचरण से कष्ट होता है जो धर्म को छोड़े तो पुनर्जन्म में बड़ा दुःख पावें। उस को 'चारवाक' उत्तर देता है कि अरे भोले भाई! जो मरे के पश्चात् शरीर भस्म हो जाता है कि जिस ने खाया पिया है वह पुनः संसार में न आवेगा। इसलिये जैसे हो सके वैसे आनन्द में रहो। लोक में नीति से चलो, ऐश्वर्य्य को बढ़ाओ और उस से इच्छित भोग करो। यही लोक समझो; परलोक कुछ नहीं।

देखो! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतों के परिणाम से यह शरीर बना है। इस में इन के योग से चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे मादक द्रव्य खाने पीने से मद (नशा) उत्पन्न होता है इसी प्रकार जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर शरीर के नाश के साथ आप ही नष्ट हो जाता है। फिर किस को पाप पुण्य का फल होगा?

तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्॥

इस शरीर में चारों भूतों के संयोग से जीवात्मा उत्पन्न होकर उन्हीं के वियोग के साथ ही नष्ट हो जाता है क्योंकि मरे पीछे कोई भी जीव प्रत्यक्ष नहीं होता। हम एक प्रत्यक्ष ही को मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुमानादि होते ही नहीं। इसलिये मुख्य प्रत्यक्ष के सामने अनुमानादि गौण होने से उस का ग्रहण नहीं करते। सुन्दर स्त्री के आलिङ्गन से आनन्द का करना पुरुषार्थ का फल है।

(उत्तर) ये पृथिव्यादि भूत जड़ हैं। उन से चेतन की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे अब माता-पिता के संयोग से देह की उत्पत्ति होती है वैसे ही आदि सृष्टि में मनुष्यादि शरीरों की आकृति परमेश्वर कर्त्ता के विना कभी नहीं हो सकती। मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, क्योंकि मद चेतन को होता है जड़ को नहीं। पदार्थ नष्ट अर्थात् अदृष्ट होते हैं परन्तु अभाव किसी का नहीं होता। इसी प्रकार अदृश्य होने से जीव का भी अभाव न मानना चाहिये। जब जीवात्मा सदेह होता है तभी उस की प्रकटता होती है। जब शरीर को छोड़ देता है तब यह शरीर जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है वह जैसा चेतनयुक्त पूर्व था वैसा नहीं हो सकता। यही बात बृहदारण्यक में कही है—

नाहं मोहं ब्रवीमि अनुच्छित्तिधर्मायमात्मेति॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे मैत्रेयि! मैं मोह से बात नहीं करता किन्तु आत्मा अविनाशी है जिस के योग से शरीर चेष्टा करता है। **जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। जो देह से पृथक् आत्मा**

न हो तो जिस के संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता होती है, वह देह से पृथक् है।

जैसे आँख सब को देखती है परन्तु अपने को नहीं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करने वाला अपने को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जैसे अपनी आँख से सब घट पटादि पदार्थ देखता है वैसे आँख को अपने ज्ञान से देखता है। जो द्रष्टा है वह द्रष्टा ही रहता है दृश्य कभी नहीं होता। जैसे विना आधार आधेय, कारण के विना कार्य्य, अवयवी के विना अवयव और कर्त्ता के विना कर्म नहीं रह सकते वैसे कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

जो सुन्दर स्त्री के साथ समागम करने ही को पुरुषार्थ का फल मानो तो क्षणिक सुख और उस से दुःख भी होता है वह भी पुरुषार्थ ही का फल होगा। जब ऐसा है तो स्वर्ग की हानि होने से दुःख भोगना पड़ेगा। जो कहो दुःख के छुड़ाने और सुख के बढ़ाने में यत्न करना चाहिये तो मुक्ति सुख की हानि हो जाती है इसलिए वह पुरुषार्थ का फल नहीं।

(चारवाक) जो दुःख संयुक्त सुख का त्याग करते हैं वे मूर्ख हैं। जैसे धान्यार्थी धान्य का ग्रहण और बुस का त्याग करता है वैसे इस संसार में बुद्धिमान् सुख का ग्रहण और दुःख का त्याग करें। क्योंकि इस लोक के उपस्थित सुख को छोड़ के अनुपस्थित स्वर्ग के सुख की इच्छा कर धूर्त कथित वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड का अनुष्ठान परलोक के लिये करते हैं वे अज्ञानी हैं। जो परलोक है ही नहीं तो उसकी आशा करना मूर्खता का काम है। क्योंकि—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥

चारवाकमतप्रचारक 'बृहस्पति' कहता है कि अग्निहोत्र, तीन वेद, तीन दण्ड और भस्म का लगाना बुद्धि और पुरुषार्थ रहित पुरुषों ने जीविका बना ली है। किन्तु कांटे लगने आदि से उत्पन्न हुए दुःख का नाम नरक; लोकसिद्ध राजा परमेश्वर और देह का नाश होना मोक्ष अन्य कुछ भी नहीं है।

(उत्तर) विषयरूपी सुखमात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषय दुःख-निवारणमात्र में कृतकृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है। **अग्निहोत्रादि यज्ञों से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना उस से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है उस को न जानकर वेद ईश्वर और वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्तों का काम है।**

जो त्रिदण्ड और भस्मधारण का खण्डन है सो ठीक है। यदि कण्टकादि से उत्पन्न ही दुःख का नाम नरक हो तो उस से अधिक महारोगादि नरक क्यों नहीं?

यद्यपि राजा को ऐश्वर्यवान् और प्रजापालन में समर्थ होने से श्रेष्ठ मानें तो ठीक है परन्तु जो अन्यायकारी पापी राजा हो उस को भी परमेश्वरवत् मानते हो तो तुम्हारे जैसा कोई भी मूर्ख नहीं। शरीर का विच्छेद होना मात्र मोक्ष है तो गदहे, कुत्ते आदि और तुम में क्या भेद रहा। किन्तु आकृति ही मात्र भिन्न रही। चारवाक—

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तदव्यवस्थितिः॥ १॥
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥ २॥

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥ ३॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्॥ ४॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते॥ ५॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ ६॥
यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः॥ ७॥
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्॥ ८॥
त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥ ९॥
अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्त्तितम् ।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्त्तितम्॥ १०॥
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्॥ ११॥

चारवाक, आभाणक, बौद्ध और जैन भी जगत् की उत्पत्ति स्वभाव से मानते हैं। जो-जो स्वाभाविक गुण हैं उस-उस से द्रव्य संयुक्त होकर सब पदार्थ बनते हैं। कोई जगत् का कर्त्ता नहीं॥ १॥

परन्तु इन में से चारवाक ऐसा मानता है किन्तु परलोक और जीवात्मा बौद्ध, जैन मानते हैं; चारवाक नहीं। शेष इन तीनों का मत कोई-कोई बात छोड़ के एक सा है। न कोई स्वर्ग, न कोई नरक और न कोई परलोक में जाने वाला आत्मा है और न वर्णाश्रम की क्रिया फलदायक है॥ २॥

जो यज्ञ में पशु को मार होम करने से वह स्वर्ग को जाता हो तो यजमान अपने पितादि को मार होम करके स्वर्ग को क्यों नहीं भेजता?॥ ३॥

जो मरे हुए जीवों को श्राद्ध और तर्पण तृप्तिकारक होता है तो परदेश में जाने वाले मार्ग में निर्वाहार्थ अन्न, वस्त्र और धनादि को क्यों ले जाते हैं? क्योंकि जैसे मृतक के नाम से अर्पण किया हुआ पदार्थ स्वर्ग में पहुंचता है तो परदेश में जाने वालों के लिये उनके सम्बन्धी भी घर में उन के नाम से अर्पण करके देशान्तर में पहुंचा देवें। जो यह नहीं पहुंचता तो स्वर्ग में वह क्योंकर पहुँच सकता है?॥ ४॥

जो मर्त्यलोक में दान करने से स्वर्गवासी तृप्त होते हैं तो नीचे देने से घर के ऊपर स्थित पुरुष तृप्त क्यों नहीं होता?॥ ५॥

इसलिये जब तक जीवे तब तक सुख से जीवे। जो घर में पदार्थ न हों तो ऋण लेके आनन्द करे। ऋण देना नहीं पड़ेगा क्योंकि जिस शरीर में जीव ने खाया पिया है उन दोनों का पुनरागमन न होगा फिर किस से कौन मांगेगा और कौन देवेगा॥ ६॥

जो लोग कहते हैं कि मृत्युसमय जीव शरीर से निकल के परलोक को जाता है; यह बात मिथ्या है क्योंकि जो ऐसा होता तो कुटुम्ब के मोह से बद्ध होकर पुनः घर में क्यों नहीं आ जाता?॥ ७॥

इसलिये यह सब ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का उपाय किया है। जो दशगात्रादि मृतकक्रिया करते हैं यह सब उनकी जीविका की लीला है॥ ८॥

वेद के बनानेहारे भांड, धूर्त्त और निशाचर अर्थात् राक्षस ये तीन हैं। 'जर्फरी' 'तुर्फरी' इत्यादि पण्डितों के धूर्त्ततायुक्त वचन हैं॥ ९॥

देखो धूर्त्तों की रचना! घोड़े के लिङ्ग को स्त्री ग्रहण करे; उस के साथ समागम यजमान की स्त्री से कराना; कन्या से ठट्ठा आदि लिखना धूर्त्तों के विना नहीं हो सकता॥ १०॥

और जो मांस का खाना लिखा है वह वेदभाग राक्षस का बनाया है॥ ११॥

(उत्तर) विना चेतन परमेश्वर के निर्माण किये जड़ पदार्थ स्वयम् आपस में स्वभाव से नियमपूर्वक मिलकर उत्पन्न नहीं हो सकते। इस वास्ते सृष्टि का कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। जो स्वभाव से ही होते हों तो द्वितीय सूर्य, चन्द्र, पृथिवी और नक्षत्रादि लोक आप से आप क्यों नहीं बन जाते हैं॥ १॥

स्वर्ग सुख भोग और नरक दुःख भोग का नाम है। जो जीवात्मा न होता तो सुख दुःख का भोक्ता कौन हो सके? जैसे इस समय सुख दुःख का भोक्ता जीव है वैसे परजन्म में भी होता है। क्या सत्यभाषण और परोपकारादि क्रिया भी वर्णाश्रमियों की निष्फल होंगी? कभी नहीं॥ २॥

पशु मार के होम करना वेदादि सत्यशास्त्रों में कहीं नहीं लिखा और मृतकों का श्राद्ध, तर्पण करना कपोलकल्पित है क्योंकि यह वेदादि सत्यशास्त्रों के विरुद्ध होने से भागवतादि पुराणमतवालों का मत है इसलिये इस बात का खण्डन अखण्डनीय है॥ ३-५॥

जो वस्तु है उस का अभाव कभी नहीं होता। विद्यमान जीव का अभाव नहीं हो सकता। देह भस्म हो जाता है; जीव नहीं। जीव तो दूसरे शरीर में जाता है इसलिये जो कोई ऋणादि कर विराने पदार्थों से इस लोक में भोग कर नहीं देते हैं। वे निश्चय पापी होकर दूसरे जन्म में दुःखरूपी नरक भोगते हैं, इस में कुछ भी सन्देह नहीं॥ ६॥

देह से निकल कर जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त होता है और उस को पूर्वजन्म तथा कुटुम्बादि का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता इसलिये पुनः कुटुम्ब में नहीं आ सकता॥ ७॥

हां! ब्राह्मणों ने प्रेतकर्म अपनी जीविकार्थ बना लिया है परन्तु वेदोक्त न होने से खण्डनीय है॥ ८॥

अब कहिये! जो चारवाक आदि ने वेदादि सत्यशास्त्र देखे सुने वा पढ़े होते तो वेदों की निन्दा कभी न करते कि वेद भांड धूर्त्त और निशाचरवत् पुरुषों ने बनाये हैं ऐसा वचन कभी न निकालते। हां! भांड धूर्त्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं। उन की धूर्त्तता है; वेदों की नहीं। परन्तु शोक है चारवाक, आभाणक, बौद्ध और जैनियों पर कि इन्होंने मूल चार वेदों की संहिताओं को भी न सुना, न देखा और न किसी विद्वान् से पढ़ा, इसीलिये नष्ट-भ्रष्ट बुद्धि होकर ऊटपटांग वेदों की निन्दा करने लगे। दुष्ट वाममार्गियों की प्रमाणशून्य कपोलकल्पित भ्रष्ट टीकाओं को देख कर वेदों से विरोधी हो कर अविद्यारूपी अगाध समुद्र में जा गिरे॥ ९॥

भला! विचारना चाहिये कि स्त्री से अश्व के लिङ्ग का ग्रहण कराके उस से समागम कराना और यजमान की कन्या से हाँसी ठट्ठा आदि करना सिवाय

वाममार्गी लोगों से अन्य मनुष्यों का काम नहीं है। विना इन महापापी वाममार्गियों के भ्रष्ट, वेदार्थ से विपरीत, अशुद्ध व्याख्यान कौन करता? अत्यन्त शोक तो इन चारवाक आदि पर है जो कि विना विचारे वेदों की निन्दा करने पर तत्पर हुए। तनिक तो अपनी बुद्धि से काम लेते। क्या करें विचारे उन में विद्या ही नहीं थी जो सत्यासत्य का विचार कर सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करते॥१०॥

और जो मांस खाना है यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है। इसलिये उन को राक्षस कहना उचित है परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा। इसलिये मिथ्या बातों का पाप उन टीकाकारों को और जिन्होंने वेदों के जाने सुने विना मनमानी निन्दा की है; निःसन्देह उन को लगेगा। सच तो यह है कि जिन्होंने वेदों का विरोध किया और करते हैं और करेंगे वे अवश्य अविद्यारूपी अन्धकार में पड़ के सुख के बदले दारुण दुःख जितना पावें उतना ही न्यून है। इसलिये मनुष्यमात्र को वेदानुकूल चलना समुचित है॥ ११॥

जो वाममार्गियों ने मिथ्या कपोलकल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करना अर्थात् यथेष्ट मद्यपान, मांस खाने और परस्त्रीगमन करने आदि दुष्ट कामों की प्रवृत्ति होने के अर्थ वेदों को कलङ्क लगाया। इन्हीं बातों को देख कर चारवाक, बौद्ध तथा जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे । और पृथक् एक वेदविरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला लिया। जो चारवाकादि वेदों का मूलार्थ विचारते तो झूठी टीकाओं को देख कर सत्य वेदोक्त मत से क्यों हाथ धो बैठते? क्या करें विचारे **'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'।** जब नष्ट भ्रष्ट होने का समय आता है तब मनुष्य की उलटी बुद्धि हो जाती है।

अब जो चारवाकादिकों में भेद है सो लिखते हैं। ये चारवाकादि बहुत सी बातों में एक हैं परन्तु चारवाक देह की उत्पत्ति के साथ जीवोत्पत्ति और उस के नाश के साथ ही जीव का भी नाश मानता है। पुनर्जन्म और परलोक को नहीं मानता। एक प्रत्यक्ष प्रमाण के विना अनुमानादि प्रमाणों को भी नहीं मानता। **चारवाक शब्द का अर्थ**—जो बोलने में 'प्रगल्भ' और विशेषार्थ 'वैतण्डिक' होता है। और बौद्ध जैन प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण, अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं। इतना ही चारवाक से बौद्ध और जैनियों का भेद है परन्तु नास्तिकता, वेद, ईश्वर की निन्दा, परमतद्वेष, छः यतना और जगत् का कर्त्ता कोई नहीं इत्यादि बातों में सब एक ही हैं। यह **चारवाक का मत संक्षेप से दर्शा दिया। अब बौद्धमत** के विषय में संक्षेप से लिखते हैं—

कार्य्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्तरदर्शनात्॥१॥

कार्य्यकारणभाव अर्थात् कार्य्य के दर्शन से कारण और कारण के दर्शन से कार्य्यादि का साक्षात्कार प्रत्यक्ष से शेष में अनुमान होता है। इसके विना प्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहार पूर्ण नहीं हो सकते, इत्यादि लक्षणों से अनुमान को अधिक मानकर चारवाक से भिन्न शाखा बौद्धों की हुई है। बौद्ध चार प्रकार के हैं—

एक 'माध्यमिक' दूसरा 'योगाचार' तीसरा 'सौत्रान्तिक' और चौथा 'वैभाषिक' **'बुद्ध्या निर्वर्त्तते सः बौद्धः'** जो बुद्धि से सिद्ध हो अर्थात् जो-जो बात अपनी बुद्धि में आवे उस-उस को माने और जो-जो बुद्धि में न आवे उस-उस को नहीं माने।

इनमें से **पहला 'माध्यमिक' सर्वशून्य** मानता है। अर्थात् जितने पदार्थ हैं वे सब शून्य अर्थात् आदि में नहीं होते; अन्त में नहीं रहते; मध्य में जो प्रतीत होता है वह भी प्रतीत समय में है पश्चात् शून्य हो जाता है। जैसे उत्पत्ति के पूर्व घट नहीं था; प्रध्वंस के पश्चात् नहीं रहता और घटज्ञान समय में भासता पदार्थान्तर में ज्ञान जाने से घटज्ञान नहीं रहता इसलिये शून्य ही एक तत्त्व है।

दूसरा 'योगाचार' जो **बाह्य शून्य** मानता है। अर्थात् पदार्थ भीतर ज्ञान में भासते हैं; बाहर नहीं। जैसे घटज्ञान आत्मा में है तभी मनुष्य कहता है कि यह घट है; जो भीतर ज्ञान न हो तो नहीं कह सकता; ऐसा मानता है।

तीसरा 'सौत्रान्तिक' जो बाहर अर्थ का अनुमान मानता है। क्योंकि बाहर कोई पदार्थ सांगोपांग प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु एकदेश प्रत्यक्ष होने से शेष में अनुमान किया जाता है। इस का ऐसा मत है।

चौथा 'वैभाषिक' है उसका मत **बाहर पदार्थ प्रत्यक्ष होता है; भीतर नहीं।** जैसे **'अयं नीलो घटः'** इस प्रतीति में नीलयुक्त घटाकृति बाहर प्रतीत होती है; यह ऐसा मानता है। यद्यपि इन का आचार्य्य बुद्ध एक है तथापि शिष्यों के बुद्धिभेद से चार प्रकार की शाखा हो गई हैं। जैसे सूर्य्यास्त होने में जार पुरुष परस्त्रीगमन, चोर चौरीकर्म और विद्वान् सत्यभाषणादि श्रेष्ठ कर्म्म करते हैं। समय एक परन्तु अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न चेष्टा करते हैं।

अब इन पूर्वोक्त चारों में 'माध्यमिक' सब को क्षणिक मानता है। अर्थात् क्षण-क्षण में बुद्धि के परिणाम होने से जो पूर्व क्षण में ज्ञात वस्तु था वैसा ही दूसरे क्षण में नहीं रहता इसलिये सब को क्षणिक मानना चाहिये; ऐसे मानता है।

दूसरा 'योगाचार' जो प्रवृत्ति है सो सब दुःखरूप है क्योंकि प्राप्ति में सन्तुष्ट कोई भी नहीं रहता। एक की प्राप्ति में दूसरे की इच्छा बनी ही रहती है; इस प्रकार मानता है।

तीसरा 'सौत्रान्तिक' सब पदार्थ अपने-अपने लक्षणों से लक्षित होते हैं जैसे गाय के चिह्नों से गाय और घोड़े के चिह्नों से घोड़ा ज्ञात होता है वैसे लक्षण लक्ष्य में सदा रहते हैं; ऐसा कहता है।

चौथा 'वैभाषिक' शून्य ही को एक पदार्थ मानता है। प्रथम माध्यमिक सब को शून्य मानता था उसी का पक्ष वैभाषिक का भी है। इत्यादि बौद्धों में बहुत से विवाद पक्ष हैं। इस प्रकार चार प्रकार की भावना मानते हैं।

(उत्तर) जो सब शून्य हो तो शून्य का जानने वाला शून्य नहीं हो सकता और जो सब शून्य होवे तो शून्य को शून्य नहीं जान सके। इसलिए शून्य का ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ सिद्ध होते हैं। और जो योगाचार बाह्य शून्यत्व मानता है तो पर्वत इस के भीतर होना चाहिये। जो कहे कि पर्वत भीतर है तो उस के हृदय में पर्वत के समान अवकाश कहां है? इसलिए बाहर पर्वत है और पर्वतज्ञान आत्मा में रहता है।

सौत्रान्तिक किसी पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं मानता तो वह आप स्वयम् और उस का वचन भी अनुमेय होना चाहिये; प्रत्यक्ष नहीं। जो प्रत्यक्ष न हो तो **'अयं घटः'** यह प्रयोग भी न होना चाहिये किन्तु **'अयं घटैकदेशः'** यह घट का एक देश है और एक देश का नाम घट नहीं किन्तु समुदाय का नाम घट है। 'यह घट है' यह प्रत्यक्ष है, अनुमेय नहीं क्योंकि सब अवयवों में अवयवी एक है। उस के प्रत्यक्ष

होने से सब घट के अवयव भी प्रत्यक्ष होते हैं अर्थात् सावयव घट प्रत्यक्ष होता है।

चौथा '**वैभाषिक**' बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष मानता है वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जहां ज्ञाता और ज्ञान होता है वहीं प्रत्यक्ष होता है अर्थात् आत्मा में सब का प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय बाहर होता है; तदाकार ज्ञान आत्मा को होता है। वैसे जो क्षणिक पदार्थ और उस का ज्ञान क्षणिक बाहर होता हो तो '**प्रत्यभिज्ञा**' अर्थात् मैंने वह बात की थी ऐसा स्मरण न होना चाहिये परन्तु पूर्व दृष्ट, श्रुत का स्मरण होता है इसलिए क्षणिकवाद भी ठीक नहीं। जो सब दुःख ही हो और सुख कुछ भी न हो तो सुख की अपेक्षा के विना दुःख सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे रात्रि की अपेक्षा से दिन और दिन की अपेक्षा से रात्रि होती है इसलिये सब दुःख मानना ठीक नहीं। जो स्वलक्षण ही मानें तो नेत्र रूप का लक्षण है और रूप लक्ष्य है जैसे घट का रूप। घट के रूप का लक्षण चक्षु लक्ष्य से भिन्न है और गन्ध पृथिवी से अभिन्न है। इसी प्रकार भिन्नाऽभिन्न लक्ष्य लक्षण मानना चाहिये। शून्य का जो उत्तर पूर्व दिया है वही अर्थात् शून्य का जानने वाला शून्य से भिन्न होता है।

सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थङ्करसम्मतम् ॥

जिन को बौद्ध तीर्थंकर मानते हैं उन्हीं को जैन भी मानते हैं इसलिये ये दोनों एक हैं। और पूर्वोक्त भावनाचतुष्टय अर्थात् चार भावनाओं से सकल वासनाओं की निवृत्ति से शून्यरूप निर्वाण अर्थात् मुक्ति मानते हैं। अपने शिष्यों को योग और आचार का उपदेश करते हैं। गुरु के वचन का प्रमाण करना। अनादि बुद्धि में वासना होने से बुद्धि ही अनेकाकार भासती है और चित्तचैत्तात्मक स्कन्ध पांच प्रकार का मानते हैं—

रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकः॥

उनमें से—(प्रथम) जो इन्द्रियों से रूपादि विषय ग्रहण किया जाता है वह '**रूपस्कन्ध**' (दूसरा) आलयविज्ञान प्रवृत्ति का जाननारूप व्यवहार को '**विज्ञान-स्कन्ध**' (तीसरा) रूपस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध से उत्पन्न हुआ सुख दुःख आदि प्रतीति रूप व्यवहार को '**वेदनास्कन्ध**' (चौथा) गौ आदि संज्ञा का सम्बन्ध नामी के साथ मानने रूप को '**संज्ञास्कन्ध**' (पांचवां) वेदनास्कन्ध से रागद्वेषादि क्लेश और क्षुधा तृषादि उपक्लेश, मद, प्रमाद, अभिमान, धर्म और अधर्मरूप व्यवहार को '**संस्कारस्कन्ध**' मानते हैं।

सब संसार में दुःखरूप दुःख का घर दुःख का साधनरूप भावना करके संसार से छूटना; चारवाकों में अधिक मुक्ति और अनुमान तथा जीव को न मानना; बौद्ध मानते हैं।

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोके उपायैर्बहुभिः किल॥ १॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाऽभिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा॥ २॥
द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धा मन्यन्ते—
अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः॥ ३॥
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
मनो बुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः॥ ४॥

अर्थात् जो ज्ञानी, विरक्त, जीवनमुक्त लोकों के नाथ बुद्ध आदि तीर्थङ्करों के पदार्थों के स्वरूप को जनाने वाला जो कि भिन्न-भिन्न पदार्थों का उपदेशक है जिस को बहुत से भेद और बहुत से उपायों से कहा है उसको मानना॥ १॥

बड़े गम्भीर और प्रसिद्ध भेद से कहीं-कहीं गुप्त और प्रकटता से भिन्न-भिन्न गुरुओं के उपदेश जो कि शून्य लक्षणयुक्त पूर्व कह आये, उनको मानना॥ २॥

जो द्वादशायतन पूजा है वही मोक्ष करने वाली है। उस पूजा के लिये बहुत से द्रव्यादि पदार्थों को प्राप्त होके द्वादशायतन अर्थात् बारह प्रकार के स्थान विशेष बना के सब प्रकार से पूजा करनी चाहिए; अन्य की पूजा करने से क्या प्रयोजन॥ ३॥

इन की द्वादशायतन पूजा यह है—पांच ज्ञानेन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और नासिका; पांच कर्मेन्द्रिय अर्थात् वाक्, हस्त, पाद, गुह्य और उपस्थ; ये १० इन्द्रियां और मन, बुद्धि इन ही का सत्कार अर्थात् इन को आनन्द में प्रवृत्त रखना इत्यादि बौद्ध का मत है॥ ४॥

(उत्तर) जो सब संसार दुःखरूप होता तो किसी जीव की प्रवृत्ति न होनी चाहिये। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीखती है इसलिये सब संसार दुःखरूप नहीं हो सकता किन्तु इस में सुख दुःख दोनों हैं और जो बौद्ध लोग ऐसा ही सिद्धान्त मानते हैं तो खानपानादि करना और पथ्य तथा ओषध्यादि सेवन करके शरीररक्षण करने में प्रवृत्त होकर सुख क्यों मानते हैं? जो कहैं कि हम प्रवृत्त तो होते हैं परन्तु इस को दुःख ही मानते हैं तो यह कथन ही सम्भव नहीं। क्योंकि जीव सुख जान कर प्रवृत्त और दुःख जान के निवृत्त होता है। **संसार में धर्मक्रिया, विद्या, सत्सङ्गादि श्रेष्ठ व्यवहार सुखकारक हैं, इन को कोई भी विद्वान् दुःख का लिङ्ग नहीं मान सकता; विना बौद्धों के।** जो पांच स्कन्ध हैं वे भी पूर्ण अपूर्ण हैं क्योंकि जो ऐसे-ऐसे स्कन्ध विचारने लगें तो एक-एक के अनेक भेद हो सकते हैं। जिन तीर्थङ्करों को उपदेशक और लोकनाथ मानते हैं और अनादि जो नाथों का भी नाथ परमात्मा है उस को नहीं मानते तो उन तीर्थङ्करों ने उपदेश किस से पाया? जो कहैं कि स्वयं प्राप्त हुआ तो ऐसा कथन सम्भव नहीं क्योंकि कारण के विना कार्य्य नहीं हो सकता। अथवा उनके कथनानुसार ऐसा ही होता तो अब उन में विना पढ़े-पढ़ाये, सुने-सुनाये और ज्ञानियों के सत्संग किये विना ज्ञानी क्यों नहीं हो जाते? जब नहीं होते तो ऐसा कथन सर्वथा निर्मूल और युक्तिशून्य सन्निपात रोगग्रस्त मनुष्य के बर्ड़ाने के समान है ।

जो शून्यरूप ही अद्वैत उपदेश बौद्धों का है तो विद्यमान वस्तु शून्यरूप कभी नहीं हो सकती। हां! सूक्ष्म कारणरूप तो हो जाती है इसलिये यह भी कथन भ्रमरूपी है। जो द्रव्यों के उपार्जन से ही पूर्वोक्त द्वादशायतनपूजा को मोक्ष का साधन मानते हैं तो दश प्राण और ग्यारहवें जीवात्मा की पूजा क्यों नहीं करते? जब इन्द्रिय और अन्तःकरण की पूजा भी मोक्षप्रद है तो इन बौद्धों और विषयीजनों में क्या भेद रहा? जो उन से ये बौद्ध नहीं बच सके तो वहां मुक्ति भी कहां रही। जहां ऐसी बातें हैं वहां मुक्ति का क्या काम?

क्या ही इन्होंने अपनी अविद्या की उन्नति की है। जिस का सादृश्य इनके विना दूसरों से नहीं घट सकता। निश्चय तो यही होता है कि इन को वेद, ईश्वर से विरोध करने का यही फल मिला। पूर्व तो संसार की दुःखरूपी भावना की। फिर बीच में द्वादशायतनपूजा लगा दी। क्या इन की द्वादशायतनपूजा संसार के पदार्थों

से बाहर की है जो मुक्ति की देने हारी हो सके? तो भला कभी आंख मीच के कोई रत्न ढूँढ़ा चाहैं वा ढूँढ़ें कभी प्राप्त हो सकता है? ऐसी ही इनकी लीला वेद, ईश्वर को न मानने से हुई।

अब भी सुख चाहैं तो वेद ईश्वर का आश्रय लेकर अपना जन्म सफल करें। विवेकविलास ग्रन्थ में बौद्धों का इस प्रकार का मत लिखा है—

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम्।
आर्य्यसत्त्वाख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात्॥ १॥
दुःखम् आयतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥ २॥
दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्त्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥ ३॥
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनम् एतानि द्वादशायतनानि तु॥ ४॥
रागादीनां गणो यः स्यात्समुदेति नृणां हृदि।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः॥ ५॥
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते॥ ६॥
प्रत्यक्षम् अनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा।
चतुःप्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः॥ ७॥
अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः॥ ८॥
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः॥ ९॥
रागादि - ज्ञानसन्तानवासनाच्छेद - सम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता॥ १०॥
कृत्तिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम्।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः॥ ११॥

बौद्धों का सुगतदेव बुद्ध भगवान् पूजनीय देव और जगत् क्षणभंगुर, आर्य्य पुरुष और आर्य्या स्त्री तथा तत्त्वों की आख्या संज्ञादि प्रसिद्धि ये चार तत्त्व बौद्धों में मन्तव्य पदार्थ हैं॥ १॥

इस विश्व को दुःख का घर जाने, तदनन्तर समुदय अर्थात् उन्नति होती है और मार्ग, इन की व्याख्या क्रम से सुनो॥ २॥

संसार में दुःख ही है जो पञ्चस्कन्ध पूर्व कह आये हैं उन को जानना॥ ३॥

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, उनके शब्दादि विषय पांच और मन बुद्धि अन्तःकरण धर्म का स्थान ये द्वादश हैं॥ ४॥

जो मनुष्यों के हृदय में रागद्वेषादि समूह की उत्पत्ति होती है वह समुदय और जो आत्मा, आत्मा के सम्बन्धी और स्वभाव है वह आख्या इन्हीं से फिर समुदय होता है॥ ५॥

सब संस्कार क्षणिक हैं जो यह वासना स्थिर होना वह बौद्धों का मार्ग है और वही शून्य तत्त्व शून्यरूप हो जाना मोक्ष है॥ ६॥

बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। चार प्रकार के इन के भेद हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक॥ ७॥

इन में वैभाषिक ज्ञान में जो अर्थ है उस को विद्यमान मानता है क्योंकि जो ज्ञान में नहीं है उस का होना सिद्ध पुरुष नहीं मान सकता। और सौत्रान्तिक भीतर को प्रत्यक्ष पदार्थ मानता है, बाहर नहीं॥ ८॥

योगाचार आकार सहित विज्ञानयुक्त बुद्धि को मानता है और माध्यमिक केवल अपने में पदार्थों का ज्ञानमात्र मानता है; पदार्थों को नहीं मानता॥ ९॥

और रागादि ज्ञान के प्रवाह की वासना के नाश से उत्पन्न हुई मुक्ति चारों बौद्धों की है॥ १०॥

मृगादि का चमड़ा, कमण्डलु, मूंड मुंडाये, वल्कल वस्त्र, पूर्वाह्न अर्थात् ९ बजे से पूर्व भोजन, अकेला न रहै, रक्त वस्त्र का धारण यह बौद्धों के साधुओं का वेश है॥ ११॥

(उत्तर) जो बौद्धों का सुगत बुद्ध ही देव है तो उस का गुरु कौन था? और जो विश्व क्षणभंग हो तो चिरदृष्ट पदार्थ का यह वही है ऐसा स्मरण न होना चाहिये। जो क्षणभंग होता तो वह पदार्थ ही नहीं रहता, पुनः स्मरण किस का होवे? जो क्षणिकवाद ही बौद्धों का मार्ग है तो इन का मोक्ष भी क्षणभंग होगा। जो ज्ञान से युक्त अर्थ द्रव्य हो तो जड़ द्रव्य में भी ज्ञान होना चाहिये इसलिये ज्ञान में अर्थ का प्रतिबिम्ब सा रहता है। जो भीतर ज्ञान में द्रव्य होवे तो बाहर न होना चाहिये और वह चालनादि क्रिया किस पर करता है? भला जो बाहर दीखता है वह मिथ्या कैसे हो सकता है? जो आकार से सहित बुद्धि होवे तो दृश्य होना चाहिये। जो केवल ज्ञान ही हृदय में आत्मस्थ होवे, बाह्य पदार्थों को केवल ज्ञान रूप ही माना जाय तो ज्ञेय पदार्थ के विना ज्ञान ही नहीं हो सकता जो वासनाच्छेद ही मुक्ति है तो सुषप्ति में भी मुक्ति माननी चाहिये। ऐसा मानना विद्या से विरुद्ध होने के कारण तिरस्करणीय है। इत्यादि बातें संक्षेपतः बौद्ध मतस्थों की प्रदर्शित कर दी हैं। अब बुद्धिमान् विचारशील पुरुष अवलोकन करके जान जायेंगे कि इन की कैसी विद्या और कैसा मत है। इसको जैन लोग भी मानते हैं। **यहां से आगे जैनमत का वर्णन है**—प्रकरणरत्नाकर १ भाग, नयचक्रसार में निम्नलिखित बातें लिखी हैं—

बौद्ध लोग समय-समय में नवीनपन से (१) आकाश, (२) काल, (३) जीव, (४) पुद्गल ये चार द्रव्य मानते हैं और जैनी लोग धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल इन छः द्रव्यों को मानते हैं। इन में काल को अस्तिकाय नहीं मानते किन्तु ऐसा कहते हैं कि काल उपचार से द्रव्य है; वस्तुतः नहीं। उन में से 'धर्मास्तिकाय' जो गतिपरिणामीपन से परिणाम को प्राप्त हुआ जीव और पुद्गल इस की गति के समीप से स्तम्भन करने का हेतु है। वह **धर्मास्तिकाय** और वह असंख्य प्रदेश परिमाण और लोक में व्यापक है। दूसरा **'अधर्मास्तिकाय'** यह है कि स्थिरता से परिणामी हुए जीव तथा पुद्गल की स्थिति के आश्रय का हेतु है। तीसरा **'आकाशास्तिकाय'** उस को कहते हैं कि जो सब द्रव्यों का आधार जिस में अवगाहन, प्रवेश, निर्गम आदि क्रिया करने वाले जीव तथा पुद्गलों को अवगाहन का हेतु और सर्वव्यापी है। चौथा **'पुद्गलास्तिकाय'** यह है कि जो कारणरूप सूक्ष्म, नित्य, एकरस, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, कार्य का लिङ्ग पूरने और गलने के स्वभाव वाला होता है। पांचवां **'जीवास्तिकाय'** जो चेतनालक्षण

ज्ञान दर्शन में उपयुक्त अनन्त पर्यायों से परिणामी होने वाला कर्त्ता भोक्ता है। और छठा '**काल**' यह है कि जो पूर्वोक्त पञ्चास्तिकायों का परत्व अपरत्व नवीन प्राचीनता का चिह्नरूप प्रसिद्ध वर्त्तमानरूप पर्यायों से युक्त है वह काल कहाता है।

(समीक्षक) जो बौद्धों ने चार द्रव्य प्रतिसमय में नवीन-नवीन माने हैं वे झूठे हैं क्योंकि आकाश, काल, जीव और परमाणु ये नये वा पुराने कभी नहीं हो सकते क्योंकि ये अनादि और कारणरूप से अविनाशी हैं; पुनः नया और पुरानापन कैसे घट सकता है? और जैनियों का मानना भी ठीक नहीं क्योंकि धर्माऽधर्म द्रव्य नहीं किन्तु गुण हैं। ये दोनों जीवास्तिकाय में आ जाते हैं। इसलिये आकाश, परमाणु, जीव और काल मानते तो ठीक था। और जो नव द्रव्य वैशेषिक में माने हैं वे ही ठीक हैं क्योंकि पृथिव्यादि पांच तत्त्व, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव पृथक्-पृथक् पदार्थ निश्चित हैं। एक जीव को चेतन मानकर ईश्वर को न मानना यह जैन, बौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है।

अब जो बौद्ध और जैनी लोग सप्तभंगी और स्याद्वाद मानते हैं सो यह है कि—**'सन् घटः'** इस को **प्रथम भङ्ग** कहते हैं क्योंकि घट अपनी वर्त्तमानता से युक्त अर्थात् घड़ा है; इस ने अभाव का विरोध किया है। **दूसरा भङ्ग 'असन् घटः'** घड़ा नहीं है। प्रथम घट के भाव से, यह घड़े के असद्भाव से दूसरा भङ्ग है। **तीसरा भङ्ग** यह है कि **'सन्नसन् घटः'** अर्थात् यह घड़ा तो है परन्तु पट नहीं क्योंकि उन दोनों से पृथक् हो गया। **चौथा भङ्ग 'घटोऽघटः'** जैसे **'अघटः पटः'** दूसरे पट के अभाव की अपेक्षा अपने में होने से घट अघट कहाता है। युगपत् उस की संज्ञा अर्थात् घट और अघट भी है। **पांचवां भङ्ग** यह है कि जो घट को पट कहना अयोग्य अर्थात् उस में घटपन वक्तव्य है और पटपन अवक्तव्य है। छठा भङ्ग यह है कि जो घट नहीं है वह कहने योग्य भी नहीं और जो है वह है और कहने योग्य भी है। और सातवां भङ्ग यह है कि जो कहने को इष्ट है परन्तु वह नहीं है और कहने के योग्य भी घट नहीं; यह सप्तम भङ्ग कहाता है। इसी प्रकार—

स्यादस्ति जीवोऽयं प्रथमो भङ्गः॥ १॥
स्यान्नास्ति जीवो द्वितीयो भङ्गः॥ २॥
स्यादवक्तव्यो जीवस्तृतीयो भङ्गः॥ ३॥
स्यादस्ति नास्तिरूपो जीवश्चतुर्थो भङ्गः॥ ४॥
स्यादस्ति अवक्तव्यो जीवः पञ्चमो भङ्गः॥ ५॥
स्यान्नास्ति अवक्तव्यो जीवः षष्ठो भङ्गः॥ ६॥
स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यो जीव इति सप्तमो भङ्गः॥ ७॥

अर्थात्—है जीव, ऐसा कथन होवे तो जीव के विरोधी जड़ पदार्थों का जीव में अभावरूप भङ्ग प्रथम कहाता है। दूसरा भङ्ग यह है कि—नहीं है जीव जड़ में ऐसा कथन भी होता है इस से यह दूसरा भङ्ग कहाता है। जीव है परन्तु कहने योग्य नहीं यह तीसरा भङ्ग। जब जीव शरीर धारण करता है। तब प्रसिद्ध और जब शरीर से पृथक् होता है तब अप्रसिद्ध रहता है ऐसा कथन होवे उस को चतुर्थ भङ्ग कहते हैं। जीव है परन्तु कहने योग्य नहीं जो ऐसा कथन है उसको पञ्चम भङ्ग कहते हैं। जीव प्रत्यक्ष प्रमाण से कहने में नहीं आता इसलिए चक्षु प्रत्यक्ष नहीं है ऐसा व्यवहार है उस को छठा भङ्ग कहते हैं। एक काल में जीव का अनुमान से होना और अदृश्यपन में न होना और एक सा न रहना किन्तु क्षण-क्षण में परिणाम

को प्राप्त होना अस्ति नास्ति न होवे और नास्ति अस्ति व्यवहार भी न होवे यह सातवां भङ्ग कहाता है।

इसी प्रकार नित्यत्व सप्तभंगी और अनित्यत्व सप्तभङ्गी तथा सामान्य धर्म, विशेष धर्म गुण और पर्य्यायों की प्रत्येक वस्तु में सप्तभङ्गी होती है। वैसे द्रव्य, गुण, स्वभाव और पर्य्यायों के अनन्त होने से सप्तभङ्गी भी अनन्त होती है। ऐसा बौद्ध तथा जैनियों का स्याद्वाद और सप्तभङ्गी न्याय कहाता है।

(समीक्षक) यह कथन एक अन्योऽन्याभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रकरण को छोड़कर कठिन जाल रचना केवल अज्ञानियों के फंसाने के लिये होता है। देखो! जीव का अजीव में और अजीव का जीव में अभाव रहता ही है। जैसे जीव और जड़ के वर्त्तमान होने से साधर्म्य और चेतन तथा जड़ होने से वैधर्म्य अर्थात् जीव में चेतनत्व (अस्ति) है और जड़त्व (नास्ति) नहीं है। इसी प्रकार जड़ में जड़त्व है और चेतनत्व नहीं है। इस से गुण, कर्म, स्वभाव के समान धर्म और विरुद्ध धर्म्म के विचार से सब इन का सप्तभङ्गी और स्याद्वाद सहजता से समझ में आता है फिर इतना प्रपञ्च बढ़ाना किस काम का है? इस में बौद्ध और जैनों का एक मत है। थोड़ा सा ही पृथक्-पृथक् होने से भिन्न भाव भी हो जाता है।

अब इस के आगे केवल जैनमत विषय में लिखा जाता है—

चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः॥ १॥
हेयं हि कर्तृरागादि तत्कार्य्यमविवेकिनः।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्॥ २॥

जैन लोग 'चित्' और 'अचित्' अर्थात् चेतन और जड़ दो ही परतत्त्व मानते हैं। उन दोनों के विचेचन का नाम विवेक, जो-जो ग्रहण के योग्य है उस-उस का ग्रहण और जो-जो त्याग करने योग्य है उस-उस का त्याग करने वाले को विवेकी कहते हैं॥ १॥

जगत् का कर्त्ता और रागादि तथा ईश्वर ने जगत् किया है इस अविवेकी मत का त्याग और योग से लक्षित परमज्योतिस्वरूप जो जीव है उस का ग्रहण करना उत्तम है॥ २॥

अर्थात् जीव के विना दूसरा चेतन तत्त्व ईश्वर को नहीं मानते। कोई भी अनादि सिद्ध ईश्वर नहीं; ऐसा बौद्ध जैन लोग मानते हैं।

इस में राजा शिवप्रसाद जी 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ में लिखते हैं कि इन के दो नाम हैं; एक जैन और दूसरा बौद्ध। ये पयार्यवाची शब्द हैं परन्तु बौद्धों में वाममार्गी मद्य-मांसाहारी बौद्ध हैं उन के साथ जैनियों का विरोध है परन्तु जो महावीर और गौतम गणधर हैं उनका नाम बौद्धों ने बुद्ध रक्खा है और जैनियों ने गणधर और जिनवर। इस में जिन की परम्परा जैनमत है उन राजा शिवप्रसाद जी ने अपने 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में लिखा है कि "स्वामी शङ्कराचार्य्य से पहले जिन को हुए कुल हजार वर्ष के लगभग गुजरे हैं; सारे भारतवर्ष में बौद्ध अथवा जैनमत फैला हुआ था।" इस पर नोट—"……बौद्ध कहने से हमारा आशय उस मत से है जो महावीर के गणधर गौतम स्वामी के समय तक वेद विरुद्ध सारे भारतवर्ष में फैला रहा और जिस को अशोक और सम्प्रति महाराज ने माना।

जैन उस से बाहर किसी तरह नहीं निकल सकते। ......जिन, जिस से जैन निकला और बुद्ध, जिस से बौद्ध निकला दोनों पर्याय शब्द हैं। कोश में दोनों का अर्थ एक ही लिखा है और गौतम को दोनों मानते हैं। वरन् दीपवंश इत्यादि पुराने बौद्ध ग्रन्थों में शाक्यमुनि गौतम बुद्ध को अक्सर महावीर ही के नाम से लिखा है। बस उन के समय में एक ही उन का मत रहा होगा। हम ने जो जैन न लिख कर गौतम के मत वालों को बौद्ध लिखा उस का प्रयोजन केवल इतना ही है कि दूसरे देश वालों ने बौद्ध ही के नाम से लिखा है...।" ऐसा ही अमरकोश में भी लिखा है—

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिनः॥ १॥
षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।
मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्ता मुनिः शाक्यमुनिस्तु यः॥ २॥
स शाक्यसिंहः सर्वार्थः सिद्धश्शौद्धोदनिश्च सः।
गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः॥ ३॥

—अमरकोश कां० १। वर्ग १। श्लोक ८ से १० तक॥

अब देखो! बुद्ध, जिन और बौद्ध तथा जैन एक के नाम हैं वा नहीं? क्या 'अमरसिंह' भी बुद्ध जिन के एक लिखने में भूल गया है? जो अविद्वान् जैन हैं वे तो न अपना जानते और न दूसरे का; केवल हठमात्र से बर्ड़ाया करते हैं परन्तु जो जैनों में विद्वान् हैं वे सब जानते हैं कि 'बुद्ध' और 'जिन' तथा 'बौद्ध' और 'जैन' पर्यायवाची हैं, इस में कुछ सन्देह नहीं।

जैन लोग कहते है कि जीव ही परमेश्वर हो जाता है वे जो अपने तीर्थङ्करों ही को केवली मुक्ति प्राप्त और परमेश्वर मानते हैं, अनादि परमेश्वर कोई नहीं। सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्, केवली, तीर्थकृत, जिन ये छः नास्तिकों के देवताओं के नाम हैं। आदिदेव का स्वरूप चन्द्रसूरि ने 'आप्तनिश्चयालङ्कार' ग्रन्थ में लिखा है—

सर्वज्ञो वीतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥ १॥

वैसे ही 'तौतातितों' ने भी लिखा है कि—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्॥ २॥
न चागमविधिः कश्चिन्नित्यसर्वज्ञबोधकः।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्पते॥ ३॥
न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवादितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः॥ ४॥

जो रागादि दोषों से रहित, त्रैलोक्य में पूजनीय, यथावत् पदार्थों का वक्ता, सर्वज्ञ अर्हन् देव है वही परमेश्वर है॥ १॥

जिसलिये हम इस समय परमेश्वर को नहीं देखते इसलिये कोई सर्वज्ञ अनादि परमेश्वर प्रत्यक्ष नहीं। जब ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो अनुमान भी नहीं घट सकता क्योंकि एकदेश प्रत्यक्ष के विना अनुमान नहीं हो सकता॥ २॥

जब प्रत्यक्ष, अनुमान नहीं तो आगम अर्थात् नित्य अनादि सर्वज्ञ परमात्मा का बोधक शब्दप्रमाण भी नहीं हो सकता। जब तीनों प्रमाण नहीं तो अर्थवाद अर्थात् स्तुति, निन्दा, परकृति अर्थात् पराये चरित्र का वर्णन और पुराकल्प अर्थात् इतिहास

का तात्पर्य भी नहीं घट सकता॥ ३॥

और अन्यार्थप्रधान अर्थात् बहुव्रीहि समास के तुल्य परोक्ष परमात्मा की सिद्धि का विधान भी नहीं हो सकता। पुनः ईश्वर के उपदेष्टाओं से सुने विना अनुवाद भी कैसे हो सकता है?॥ ४॥

(इसका प्रत्याख्यान अर्थात् खण्डन)—जो अनादि ईश्वर न होता तो 'अर्हन्' देव के माता, पिता आदि के शरीर का सांचा कौन बनाता? विना संयोगकर्त्ता के यथायोग्य सर्वाऽवयवसम्पन्न, यथोचित कार्य करने में उपयुक्त शरीर बन ही नहीं सकता। और जिन पदार्थों से शरीर बना है। उन के जड़ होने से स्वयम् इस प्रकार की उत्तम रचना से युक्त शरीर रूप नहीं बन सकते क्योंकि उन में यथायोग्य बनने का ज्ञान ही नहीं। और जो रागादि दोषों से सहित होकर पश्चात् दोष रहित होता है वह ईश्वर कभी नहीं हो सकता क्योंकि जिस निमित्त से वह रागादि से मुक्त होता है वह मुक्ति उस निमित्त के छूटने से उस का कार्य मुक्ति भी अनित्य होगी। जो अल्प और अल्पज्ञ है वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता क्योंकि जीव का स्वरूप एकदेशी और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला होता है वह सब विद्याओं में सब प्रकार यथार्थवक्ता नहीं हो सकता, इसलिये तुम्हारे तीर्थङ्कर परमेश्वर कभी नहीं हो सकते॥ १॥

क्या तुम जो **प्रत्यक्ष** पदार्थ हैं उन्हीं को मानते हो; **अप्रत्यक्ष** को नहीं? **जैसे कान से रूप और चक्षु से शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता वैसे अनादि परमात्मा को देखने का साधन शुद्धान्तःकरण, विद्या और योगाभ्यास से पवित्रात्मा, परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है। जैसे विना पढ़े विद्या के प्रयोजनों की प्राप्ति नहीं होती वैसे ही योगाभ्यास और विज्ञान के विना परमात्मा भी नहीं दीख पड़ता।**

जैसे भूमि के रूपादि गुण ही को देख जान के गुणों से अव्यवहित सम्बन्ध से पृथिवी प्रत्यक्ष होती है वैसे इस सृष्टि में परमात्मा के रचना विशेष लिङ्ग देख के परमात्मा प्रत्यक्ष होता है।

और जो पापाचरणेच्छा समय में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है वह अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से है। इस से भी परमात्मा प्रत्यक्ष होता है। अनुमान के होने में क्या सन्देह हो सकता है॥ २॥

और प्रत्यक्ष तथा अनुमान के होने से **आगम प्रमाण** भी नित्य, अनादि, सर्वज्ञ ईश्वर का बोधक होता है इसलिए **शब्दप्रमाण** भी ईश्वर में है। जब तीनों प्रमाणों से ईश्वर को जीव जान सकता है तब अर्थवाद अर्थात् परमेश्वर के गुणों की प्रशंसा करना भी यथार्थ घटता है। क्योंकि जो नित्य पदार्थ हैं उन के गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य होते हैं। उन की प्रशंसा करने में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं॥ ३॥

जैसे मनुष्यों में कर्त्ता के विना कोई भी कार्य नहीं होता वैसे ही इस महत्कार्य का कर्त्ता के विना होना सर्वथा असम्भव है। जब ऐसा है तो ईश्वर के होने में मूढ़ को भी सन्देह नहीं हो सकता। जब परमात्मा के उपदेश करने वालों से सुनेंगे पश्चात् उस का अनुवाद करना भी सरल है॥ ४॥ इससे जैनों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर का खण्डन करना आदि व्यवहार अनुचित है।

(प्रश्न) अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते॥ १॥

अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते।
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योऽन्याश्रययोस्तयोः॥ २॥
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिध्येत् सिद्धमूलान्तरादृते॥ ३॥

बीच में सर्वज्ञ हुआ अनादि शास्त्र का अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि किए हुए असत्य वचन से उस का प्रतिपादन किस प्रकार से हो सके?॥ १॥

और जो परमेश्वर ही के वचन से परमेश्वर सिद्ध होता है तो अनादि ईश्वर से अनादि शास्त्र की सिद्धि; अनादि शास्त्र से अनादि ईश्वर की सिद्धि; अन्योऽन्याश्रय दोष आता है॥ २॥

क्योंकि सर्वज्ञ के कथन से वह वेदवाक्य सत्य और उसी वेदवचन से ईश्वर की सिद्धि करते हो यह कैसे सिद्ध हो सकता है? उस शास्त्र और परमेश्वर की सिद्धि के लिये तीसरा कोई प्रमाण चाहिये। जो ऐसा मानोगे तो अनवस्था दोष आवेगा॥३॥

(उत्तर) हम लोग परमेश्वर और परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव को अनादि मानते हैं। अनादि नित्य पदार्थों में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आ सकता जैसे कार्य्य से कारण का ज्ञान और कारण से कार्य्य का बोध होता है। कार्य्य में कारण का स्वभाव और कारण में कार्य्य का स्वभाव नित्य है वैसे परमेश्वर और परमेश्वर के अनन्त विद्यादि गुण नित्य होने से ईश्वरप्रणीत वेद में अनवस्था दोष नहीं आता॥ १। २। ३॥

और तुम तीर्थंकरों को परमेश्वर मानते हो यह कभी नहीं घट सकता क्योंकि विना माता, पिता के उन का शरीर ही नहीं होता तो वे तपश्चर्य्या, ज्ञान और मुक्ति को कैसे पा सकते हैं? वैसे ही संयोग का आदि अवश्य होता है क्योंकि विना वियोग के संयोग हो ही नहीं सकता इसलिये अनादि सृष्टिकर्त्ता परमात्मा को मानो।

देखो! चाहे कितना ही कोई सिद्ध हो तो भी शरीर आदि की रचना को पूर्णता से नहीं जान सकता। जब सिद्ध जीव सुषुप्ति दशा में जाता है तब उस को कुछ भी भान नहीं रहता। जब जीव दुःख को प्राप्त होता है तब उस का ज्ञान भी न्यून हो जाता है। ऐसे परिच्छिन्न सामर्थ्य वाले एकदेश में रहने वाले को ईश्वर मानना विना भ्रान्तिबुद्धियुक्त जैनियों से अन्य कोई भी नहीं मान सकता। जो तुम कहो कि वे तीर्थङ्कर अपने माता, पिताओं से हुए तो वे किन से और उनके माता पिता किन से? फिर उन के भी माता, पिता किन से उत्पन्न हुए? इत्यादि अनवस्था आवेगी।

आस्तिक और नास्तिक का संवाद

इस के आगे प्रकरणरत्नाकर के दूसरे भाग आस्तिक, नास्तिक के संवाद के प्रश्नोत्तर यहां लिखते हैं। जिस को बड़े-बड़े जैनियों ने अपनी सम्मति के साथ माना और मुम्बई में छपवाया है।

(नास्तिक) ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं होता जो कुछ होता है वह कर्म से।

(आस्तिक) जो सब कर्म से होता है तो कर्म किस से होता है? जो कहो कि जीव आदि से होता है तो जिन श्रोत्रादि साधनों से कर्म जीव करता है वे किन से हुए? जो कहो कि अनादिकाल और स्वभाव से होते हैं तो अनादि का

छूटना असम्भव होकर तुम्हारे मत में मुक्ति का अभाव होगा। जो कहो कि प्रागभाववत् अनादि सान्त हैं तो विना यत्न के सब कर्म निवृत्त हो जायेंगे। यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो तो पाप के फल दुःख को जीव अपनी इच्छा से कभी नहीं भोगेगा। जैसे चोर आदि चोरी का फल दण्ड अपनी इच्छा से नहीं भोगते किन्तु राज्यव्यवस्था से भोगते हैं वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं अन्यथा कर्मसङ्कर हो जायेंगे अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे।

(नास्तिक) ईश्वर अक्रिय है क्योंकि जो कर्म करता होता तो कर्म का फल भी भोगना पड़ता। इसलिये जैसे हम केवली प्राप्त मुक्तों को अक्रिय मानते हैं वैसे तुम भी मानो।

(आस्तिक) ईश्वर अक्रिय नहीं किन्तु सक्रिय है। जब चेतन है तो कर्त्ता क्यों नहीं? और जो कर्त्ता है तो वह क्रिया से पृथक् कभी नहीं हो सकता। जैसा तुम्हारा कृत्रिम बनावट का ईश्वर तीर्थङ्कर को जीव से बने हुए मानते हो इस प्रकार के ईश्वर को कोई भी विद्वान् नहीं मान सकता। क्योंकि जो निमित्त से ईश्वर बने तो अनित्य और पराधीन हो जाय क्योंकि ईश्वर बने के प्रथम जीव था पश्चात् किसी निमित्त से ईश्वर बना तो फिर भी जीव हो जायेगा। अपने जीवत्व स्वभाव को कभी नहीं छोड़ सकता क्योंकि अनन्तकाल से जीव है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसलिए इस अनादि स्वतःसिद्ध ईश्वर को मानना योग्य है।

देखो! जैसे वर्त्तमान समय में जीव पाप पुण्य करता, सुख दुःख भोगता है वैसे ईश्वर कभी नहीं होता। जो ईश्वर क्रियावान् न होता तो इस जगत् को कैसे बना सकता? जो कर्मों को प्रागभाववत् अनादि सान्त मानते हो तो कर्म समवाय सम्बन्ध से नहीं रहेगा। जो समवाय सम्बन्ध से नहीं वह संयोगज होके अनित्य होता है। जो मुक्ति में क्रिया ही न मानते हो तो वे मुक्त जीव ज्ञान वाले होते हैं वा नहीं? जो कहो होते हैं तो अन्तःक्रिया वाले हुए। क्या मुक्ति में पाषाणवत् जड़ हो जाते; एक ठिकाने पड़े रहते और कुछ भी चेष्टा नहीं करते तो मुक्ति क्या हुई किन्तु अन्धकार और बन्धन में पड़ गये।

(नास्तिक) ईश्वर व्यापक नहीं है जो व्यापक होता तो सब वस्तु चेतन क्यों नहीं होती? और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि की उत्तम, मध्यम, निकृष्ट अवस्था क्यों हुई? क्योंकि सब में ईश्वर एक सा व्याप्त है तो छुटाई-बड़ाई न होनी चाहिये।

(आस्तिक) व्याप्य और व्यापक एक नहीं होते किन्तु व्याप्य एकदेशी और व्यापक सर्वदेशी होता है। जैसे आकाश सब में व्यापक है और भूगोल और घटपटादि सब व्याप्य एकदेशी हैं। जैसे पृथिवी आकाश एक नहीं वैसे ईश्वर और जगत् एक नहीं। **जैसे सब घट पटादि में आकाश व्यापक है और घटपटादि आकाश नहीं, वैसे परमेश्वर चेतन सब में है और सब चेतन नहीं होता। जैसे आकाश सब में बराबर है पृथ्वी आदि के अवयव बराबर नहीं वैसे परमेश्वर के बराबर कोई नहीं।** जैसे विद्वान्, अविद्वान् और धर्मात्मा, अधर्मात्मा बराबर नहीं होते वैसे विद्यादि सद्गुण और सत्यभाषणादि कर्म सुशीलतादि स्वभाव के न्यूनाधिक होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज बड़े छोटे माने जाते हैं। वर्णों की व्याख्या जैसी 'चतुर्थसमुल्लास' में लिख आये हैं वहाँ देख लो।

(नास्तिक) ईश्वर ने जगत् का अधिपतित्व और जगत् रूप ऐश्वर्य किस कारण स्वीकार किया?

(आस्तिक) ईश्वर ने कभी अधिपतित्व न छोड़ा था; न ग्रहण किया है किन्तु अधिपतित्व और जगत् रूप ऐश्वर्य ईश्वर ही में है। न कभी उस से अलग हो सकता है तो ग्रहण क्या करेगा? क्योंकि अप्राप्त का ग्रहण होता है। व्याप्य से व्यापक और व्यापक से व्याप्य पृथक् कभी नहीं हो सकता। इसलिये सदैव स्वामित्व और अनन्त ऐश्वर्य अनादि काल से ईश्वर में है। इस का ग्रहण और त्याग जीवों में घट सकता है; ईश्वर में नहीं।

(नास्तिक) जो ईश्वर की रचना से सृष्टि होती तो माता, पितादि का क्या काम ?

(आस्तिक) ऐश्वरी सृष्टि का ईश्वर कर्त्ता है; जैवी सृष्टि का नहीं। जो जीवों के कर्त्तव्य कर्म हैं उन को ईश्वर नहीं करता किन्तु जीव ही करता है। जैसे वृक्ष, फल, ओषधि, अन्नादि ईश्वर ने उत्पन्न किया है। उस को लेकर मनुष्य न पीसें, न कूटें, न रोटी आदि पदार्थ बनावें और न खावें तो क्या ईश्वर उस के बदले इन कामों को कभी करेगा ? और जो न करें तो जीव का जीवन भी न हो सके। इसलिए आदिसृष्टि में जीव के शरीरों और सांचों को बनाना ईश्वराधीन; पश्चात् उन से पुत्रादि की उत्पत्ति करना जीव का कर्त्तव्य काम है।

(नास्तिक) जब परमात्मा शाश्वत, अनादि, चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप है तो जगत् के प्रपञ्च और दुःख में क्यों पड़ा? आनन्द छोड़ दुःख का ग्रहण ऐसा काम कोई साधारण मनुष्य भी नहीं करता; ईश्वर ने ऐसा क्यों किया?

(आस्तिक) परमात्मा किसी प्रपञ्च और दुःख में नहीं गिरता, न अपने आनन्द को छोड़ता है क्योंकि प्रपञ्च और दुःख में गिरना जो एकदेशी हो उस का हो सकता है; सर्वदेशी का नहीं। जो अनादि, चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप परमात्मा जगत् को न बनावे तो अन्य कौन बना सके ? जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं और जड़ में स्वयं बनने का भी सामर्थ्य नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता और सदा आनन्द में रहता है। जैसे परमात्मा परमाणुओं से सृष्टि करता है वैसे माता पितारूप निमित्तकारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध नियम उसी ने किया है।

(नास्तिक) ईश्वर मुक्तिरूप सुख को छोड़ जगत् का सृष्टिकरण धारण और प्रलय करने के बखेड़े में क्यों पड़ा ?

(आस्तिक) ईश्वर सदा मुक्त होने से तुम्हारे साधनों से सिद्ध हुए तीर्थङ्करों के समान एकदेश में रहने हारे बन्धपूर्वक मुक्ति से युक्त, सनातन परमात्मा नहीं है। जो अनन्तस्वरूप गुण, कर्म, स्वभावयुक्त परमात्मा है वह इस किञ्चित्मात्र जगत् को बनाता, धरता और प्रलय करता हुआ भी बन्ध में नहीं पड़ता क्योंकि बन्ध और मोक्ष सापेक्षता से है। जैसे मुक्ति की अपेक्षा से बन्ध और बन्ध की अपेक्षा से मुक्ति होती है। जो कभी बद्ध नहीं था वह मुक्त क्योंकर कहा जा सकता है? और जो एकदेशी जीव हैं वे ही बद्ध और मुक्त सदा हुआ करते हैं। अनन्त, सर्वदेशी, सर्वव्यापक ईश्वर बन्धन वा नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में जैसे कि तुम्हारे तीर्थङ्कर हैं; कभी नहीं पड़ता। इसलिये वह परमात्मा सदैव मुक्त कहाता है।

(नास्तिक) जीव कर्मों के फल ऐसे ही भोग सकते हैं जैसे भांग पीने के मद को स्वयमेव भोगता है। इस में ईश्वर का काम नहीं।

(आस्तिक) जैसे विना राजा के डाकू, लम्पट, चोरादि दुष्ट मनुष्य स्वयं

फांसी वा कारागृह में नहीं जाते; न वे जाना चाहते हैं किन्तु राज की न्यायव्यवस्थानुसार बलात्कार से पकड़ाकर यथोचित राजा दण्ड देता है। इसी प्रकार जीव को भी ईश्वर न्यायव्यवस्था से स्व-स्व कर्मानुसार यथायोग्य दण्ड देता है। क्योंकि कोई भी जीव अपने दुष्ट कर्मों के फल भोगना नहीं चाहता इसलिये अवश्य परमात्मा न्यायाधीश होना चाहिये।

(नास्तिक) जगत् में एक ईश्वर नहीं किन्तु जितने मुक्त जीव हैं वे सब ईश्वर हैं।

(आस्तिक) यह कथन सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि जो प्रथम बद्ध होकर मुक्त हो तो पुनः बन्ध में अवश्य पड़े क्योंकि वे स्वाभाविक सदैव मुक्त नहीं। जैसे तुम्हारे चौबीस तीर्थङ्कर पहले बद्ध थे पुनः मुक्त हुए फिर भी बन्ध में अवश्य गिरेंगे और जब बहुत से ईश्वर हैं तो जैसे जीव अनेक होने से लड़ते भिड़ते फिरते हैं वैसे ईश्वर भी लड़ा भिड़ा करेंगे।

(नास्तिक) हे मूढ़! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं किन्तु जगत् स्वयंसिद्ध है।

(आस्तिक) यह जैनियों की कितनी बड़ी भूल है! भला विना कर्त्ता के कोई कर्म, कर्म के विना कोई कार्य्य जगत् में होता दीखता है! यह ऐसी बात है कि जैसे गेहूं के खेत में स्वयंसिद्ध पिसान, रोटी बन के जैनियों के पेट में चली जाती हो। कपास, सूत, कपड़ा, अङ्गर्खा, दुपट्टा, धोती, पगड़ी आदि बनके कभी नहीं आते। जब ऐसा नहीं तो ईश्वर कर्त्ता के विना यह विविध जगत् और नाना प्रकार की रचना विशेष कैसे बन सकती? जो हठधर्म से स्वयंसिद्ध जगत् को मानो तो स्वयंसिद्ध उपरोक्त वस्त्रादिकों को कर्त्ता के विना प्रत्यक्ष कर दिखलाओ। जब ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते पुनः तुम्हारे प्रमाणशून्य कथन को कौन बुद्धिमान् मान सकता है?

(नास्तिक) ईश्वर विरक्त है वा मोहित? जो विरक्त है तो जगत् के प्रपञ्च में क्यों पड़ा? जो मोहित है तो जगत् के बनाने को समर्थ नहीं हो सकेगा।

(आस्तिक) परमेश्वर में वैराग्य वा मोह कभी नहीं घट सकता क्योंकि जो सर्वव्यापक है वह किस को छोड़े और किस को ग्रहण करे। ईश्वर से उत्तम वा उस को अप्राप्त कोई पदार्थ नहीं है इसलिये किसी में मोह भी नहीं होता। वैराग्य और मोह का होना जीव में घटता है; ईश्वर में नहीं।

(नास्तिक) जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता और जीवों के कर्मों के फलों का दाता मानोगे तो ईश्वर प्रपञ्ची होकर दुःखी हो जायेगा।

(आस्तिक) भला! अनेकविध कर्मों का कर्त्ता और प्राणियों को फलों का दाता धार्मिक न्यायाधीश विद्वान् कर्मों में नहीं फंसता न प्रपञ्ची होता है तो परमेश्वर अनन्त सामर्थ्य वाला प्रपञ्ची और दुःखी क्योंकर होगा? हां! तुम अपने और अपने तीर्थङ्करों के समान परमेश्वर को भी अपने अज्ञान से समझते हो सो तुम्हारी अविद्या की लीला है। जो अविद्यादि दोषों से छूटना चाहो तो वेदादि सत्यशास्त्रों का आश्रय लेओ। क्यों भ्रम में पड़े-पड़े ठोकर खाते हो?

अब जैन लोग जगत् को जैसा मानते हैं वैसा इन के सूत्रों के अनुसार दिखलाते और संक्षेपतः मूलार्थ के किये पश्चात् सत्य झूठ की समीक्षा करके दिखलाते हैं—

मूल— सामि अणाइ अणन्ते, चउगइ संसारघोरकान्तारे।
मोहाइ कम्मगुरुठिइ, विवाग वसउ भमइ जीवो॥

—प्रकरणरत्नाकर भाग दूसरा (२)। षष्टीशतक ६०। सूत्र २॥

यह प्रकरणरत्नाकर नामक ग्रन्थ के सम्यक्त्वप्रकाश प्रकरण में गौतम और महावीर का संवाद है। इस का संक्षेप से उपयोगी यह अर्थ है कि यह संसार अनादि अनन्त है। न कभी इस की उत्पत्ति हुई न कभी विनाश होता है अर्थात् किसी का बनाया जगत् नहीं। सो ही आस्तिक नास्तिक के संवाद में—हे मूढ़! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं; न कभी बना और न कभी नाश होता।

(समीक्षक) जो संयोग से उत्पन्न होता है वह अनादि और अनन्त कभी नहीं हो सकता। और उत्पत्ति तथा विनाश हुए विना कर्म नहीं रहता। जगत् में जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब संयोगज उत्पत्ति विनाश वाले देखे जाते हैं। पुनः जगत् उत्पन्न और विनाश वाला क्यों नहीं? इसलिये तुम्हारे तीर्थङ्करों को सम्यग्बोध नहीं था। जो उन को सम्यग्ज्ञान होता तो ऐसी असम्भव बातें क्यों लिखते? जैसे तुम्हारे गुरु हैं वैसे तुम शिष्य भी हो। तुम्हारी बातें सुनने वालों को पदार्थज्ञान कभी नहीं हो सकता।

भला! जो प्रत्यक्ष संयुक्त पदार्थ दीखता है उस की उत्पत्ति और विनाश क्योंकर नहीं मानते? अर्थात् इनके आचार्य वा जैनियों को भूगोल खगोल विद्या भी नहीं आती थी और न अब यह विद्या इन में है। नहीं तो निम्नलिखित ऐसी असम्भव बातें क्योंकर मानते और कहते?

देखो! इस सृष्टि में पृथिवीकाय अर्थात् पृथिवी भी जीव का शरीर है और जलकायादि जीव भी मानते हैं। इस को कोई भी नहीं मान सकता। और भी देखो इन की मिथ्या बातें। जिन तीर्थङ्करों को जैन लोग सम्यग्ज्ञानी और परमेश्वर मानते हैं उन की मिथ्या बातों के ये नमूने हैं। (रत्नसारभाग) के पृष्ठ १४५। इस ग्रन्थ को जैन लोग मानते हैं और यह (ईसवी सन् १८७९ अप्रैल ता० २८ में) बनारस जैनप्रभाकर प्रेस में नानकचन्द जती ने छपवा कर प्रसिद्ध किया है। उस के पूर्वोक्त पृष्ठ में काल की इस प्रकार व्याख्या की है—

अर्थात् समय का नाम सूक्ष्म काल है और असंख्यात समयों को **'आवलि'** कहते हैं। एक क्रोड़, सर्सठ लाख, सत्तर सहस्त्र दो सौ सोलह आवलियों का एक मुहूर्त्त होता है। वैसे तीस मुहूर्त्तों का एक दिवस; वैसे पन्द्रह दिवसों का एक पक्ष; वैसे दो पक्षों का एक मास; वैसे बारह महीनों का एक वर्ष होता है। वैसे सत्तर लाख क्रोड़, छप्पन सहस्त्र क्रोड़ वर्षों का एक पूर्व होता है। ऐसे असंख्यात पूर्वों का एक 'पल्योपम' काल कहते हैं।

असंख्यात इस को कहते हैं कि एक चार कोश का चौरस और उतना ही गहिरा कुआ खोद कर उस को जुगलिये मनुष्य के शरीर के निम्नलिखित बालों के टुकड़ों से भरना अर्थात् वर्त्तमान मनुष्य के बाल से जुगुलिये मनुष्यों का बाल चार हजार छानवें भाग सूक्ष्म होता है। जब जुगुलिये मनुष्यों के चार सहस्त्र छानवें बालों को इकट्ठा करें तो इस समय के मनुष्यों का एक बाल होता है। ऐसे जुगुलिये मनुष्य के एक बाल के एक अंगुल भाग के सात वार आठ-आठ टुकड़े करने से २०९७१५२ अर्थात् बीस लाख, सत्तानवें सहस्त्र, एक सौ बावन टुकड़े होते हैं। ऐसे टुकड़ों से पूर्वोक्त कुआ को भरना, उस में से सौ वर्ष के अन्तरे एक-एक टुकड़ा निकालना। जब सब टुकड़े निकल जावें और कुआ खाली हो जाय तो भी वह संख्यात काल है।

और जब उन में से एक-एक टुकड़े के असंख्यात टुकड़े करके उन टुकड़ों से उसी कुए को ऐसा ठस भरना कि उस के ऊपर से चक्रवर्त्ती राजा की सेना

चली जाय तो भी न दबे। उन टुकड़ों में से सौ वर्ष के अन्तरे एक टुकड़ा निकाले। जब वह कुआ रीता हो जाय तब उस में असंख्यात पूर्व पड़ें तब एक-एक **पल्योपम** काल होता है। वह पल्योपम काल कुआ के दृष्टान्त से जानना।

जब 'दश क्रोड़ान् क्रोड़ पल्योपम काल बीतें तब एक 'सागरोपम' काल होता है। जब दश क्रोड़ान् क्रोड़ सागरोपम काल बीत जाय तब एक 'उत्सर्प्पिणी' काल होता है। और जब एक उत्सर्प्पिणी और एक अवसर्प्पिणी काल बीत जाय तब एक 'कालचक्र' होता है। जब अनन्त कालचक्र बीत जावें तब एक 'पुद्गलपरावर्त्त' होता है।

अब अनन्तकाल किस को कहते हैं? जो सिद्धान्त पुस्तकों में नव दृष्टान्तों से काल की संख्या की है उस से उपरान्त 'अनन्तकाल' कहाता है। वैसे अनन्त पुद्गलपरावर्त्त काल जीव को भ्रमते हुए बीते हैं; इत्यादि।

(समीक्षक) सुनो भाई! गणितविद्यावाले लोगो! जैनियों के ग्रन्थों की कालसंख्या कर सकोगे वा नहीं? और तुम इस को सच भी मान सकोगे वा नहीं? देखो! तीर्थङ्करों ने ऐसी गणितविद्या पढ़ी थी। ऐसे-ऐसे तो इन के मत में गुरु और शिष्य हैं जिन की अविद्या का कुछ पारावार नहीं। और भी इन का अन्धेर सुनो।

रत्नसार भाग १ पृ० १३४ से लेके जो कुछ बूटाबोल अर्थात् जैनियों के सिद्धान्त ग्रन्थ जो कि उनके तीर्थङ्कर अर्थात् ऋषभदेव से लेके महावीर पर्य्यन्त चौबीस हुए हैं, उन के वचनों का सारसंग्रह है ऐसा रत्नसारभाग पृ० १४८ में लिखा है कि पृथिवीकाय के जीव मट्टी, पाषाणादि पृथिवी के भेद जानना। उन में रहने वाले जीवों के शरीर का परिमाण एक अंगुल का असंख्यातवां भाग समझना अर्थात् अतीव सूक्ष्म होते हैं। उन का आयुमान अर्थात् वे अधिक से अधिक २२ सहस्र वर्ष पर्यन्त जीते हैं।

रत्न० पृ० १४९; वनस्पति के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। वे साधारण वनस्पति कहाती हैं जो कि कन्दमूलप्रमुख और अनन्तकायप्रमुख होते हैं उन को साधारण वनस्पति के जीव कहने चाहिये। उन का आयुमान अनन्तमुहूर्त्त होता है परन्तु यहां पूर्वोक्त इन का मुहूर्त्त समझना चाहिए।

और एक शरीर में जो एकेन्द्रिय अर्थात् स्पर्श इन्द्रिय इन में है और उस में एक जीव रहता है उस को प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। उस का देहमान एक सहस्र योजन अर्थात् पुराणियों का योजन ४ कोश का परन्तु जैनियों का योजन १०००० दश सहस्र कोशों का होता है। ऐसे चार सहस्र कोश का शरीर होता है, उस का आयुमान अधिक से अधिक दश सहस्र वर्ष का होता है।

अब दो इन्द्रिय वाले जीव अर्थात् एक उन का शरीर और एक मुख जो शङ्ख, कौड़ी और जूं आदि होते हैं उन का देहमान अधिक से अधिक अड़तालीस कोश का स्थूल शरीर होता है। और उन का आयुमान अधिक से अधिक बारह वर्ष का होता है।

(समीक्षक) यहां बहुत ही भूल गया क्योंकि इतने बड़े शरीर का आयु अधिक लिखता और अड़तालीस कोश की स्थूल जूं जैनियों के शरीर में पड़ती होगी और उन्हीं ने देखी भी होगी। और का भाग्य ऐसा कहां जो इतनी बड़ी जूं को देखे!!!

रत्नसार भाग १ पृ० १५०; और देखो इन का अन्धाधुन्ध! बीछू, बगाई,

कसारी और मक्खी एक योजन के शरीर वाले होते हैं। इन का आयुमान अधिक से अधिक छः महीने का है।

(समीक्षक) देखो भाई! चार चार कोश का बीछू अन्य किसी ने देखा न होगा। जो आठ मील तक का शरीर वाला बीछू और मक्खी भी जैनियों के मत में होती हैं। ऐसे बीछू और मक्खी उन्हीं के घर में रहते होंगे और उन्हीं ने देखे होंगे। अन्य किसी ने संसार में नहीं देखे होंगे। कभी ऐसे बीछू किसी जैनी को काटें तो उस का क्या होता होगा?

जलचर मच्छी आदि के शरीर का मान एक सहस्र योजन अर्थात् १००० कोश के योजन के हिसाब से १,००,००,००० एक करोड़ कोश का शरीर होता है और एक करोड़ पूर्व वर्षों का इन का आयु होता है। वैसा स्थूल जलचर सिवाय जैनियों के अन्य किसी ने न देखा होगा। और चतुष्पात् हाथी आदि का देहमान दो कोश से नव कोशपर्यन्त और आयुमान चौरासी सहस्र वर्षों का इत्यादि। ऐसे बड़े-बड़े शरीर वाले जीव भी जैनी लोगों ने देखे होंगे और मानते हैं और कोई बुद्धिमान् नहीं मान सकता।

(रत्नसार भा० १ पृ० १५१) जलचर गर्भज जीवों का देहमान उत्कृष्ट एक सहस्र योजन अर्थात् १००००००० एक करोड़ कोशों का और आयुमान एक करोड़ पूर्व वर्षों का होता है।

(समीक्षक) इतने बड़े शरीर और आयु वाले जीवों को भी इन्हीं के आचार्यों ने स्वप्न में देखे होंगे। क्या यह महाझूठ बात नहीं कि जिस का कदापि सम्भव न हो सके?।

अब सुनिये भूमि के परिमाण को । (रत्नसार भा० पृ० १५२);

इस तिरछे लोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। इन असंख्यात का प्रमाण अर्थात् जो अढ़ाई सागरोपम काल में जितना समय हो उतने द्वीप तथा समुद्र जानना। अब इस पृथिवी में एक 'जम्बूद्वीप' प्रथम सब द्वीपों के बीच में है। इस का प्रमाण एक लाख योजन अर्थात् **चार लाख कोश** का है और इस के चारों ओर लवण समुद्र है। उस का प्रमाण दो लाख योजन कोश का है अर्थात् आठ लाख कोश का। इस जम्बूद्वीप के चारों ओर जो 'धातकीखण्ड' नाम द्वीप है उस का चार लाख योजन अर्थात् सोलह लाख कोश का प्रमाण है। उस के पीछे 'कालोदधि' समुद्र है उस का आठ लाख अर्थात् बत्तीस लाख कोश का प्रमाण है। उस के पीछे 'पुष्करावर्त्त' द्वीप है। उस का प्रमाण सोलह लाख योजन कोश का है। उस द्वीप के भीतर की कोरें हैं। उस द्वीप के आधे में मनुष्य बसते हैं और उस के उपरान्त असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमें तिर्यग् योनि के जीव रहते हैं।

(रत्नसार भा० १ पृ० १५३)—जम्बूद्वीप में एक हिमवन्त, एक ऐरण्यवन्त, एक हरिवर्ष, एक रम्यक्, एक दैवकुरु, एक उत्तरकुरु ये छः क्षेत्र हैं।

(समीक्षक) सुनो भाई! भूगोलविद्या के जानने वाले लोगो! भूगोल के परिमाण करने में तुम भूले वा जैन? जो जैन भूल गये हों तो तुम उन को समझाओ और जो तुम भूले हो तो उन से समझ लेओ। थोड़ा सा विचार कर देखो तो यही निश्चय होता है कि जैनियों के आचार्य्य और शिष्यों ने भूगोल खगोल और गणितविद्या कुछ भी नहीं पढ़ी थी। जो पढ़े होते तो महा असम्भव गपोड़ा क्यों मारते?

भला ऐसे अविद्वान् पुरुष जगत् को अकर्तृक और ईश्वर को न मानें तो

इस में क्या आश्चर्य है? इसलिये जैनी लोग अपने पुस्तकों को किन्हीं विद्वान् अन्य मतस्थों को नहीं देते। क्योंकि जिन को ये लोग प्रामाणिक तीर्थङ्करों के बनाये हुए सिद्धान्त ग्रन्थ मानते हैं, उन में इसी प्रकार की अविद्यायुक्त बातें भरी पड़ी हैं इसलिये नहीं देखने देते। जो देवें तो पोल खुल जाय। इन के विना जो कोई मनुष्य कुछ भी बुद्धि रखता होगा वह कदापि इस गपोड़ाध्याय को सत्य नहीं मान सकेगा। यह सब प्रपञ्च जैनियों ने जगत् को अनादि मानने के लिये खड़ा किया है परन्तु यह निरा झूठ है।

हां! जगत् का कारण अनादि है क्योंकि वे परमाणु आदि तत्त्वस्वरूप अकर्तृक हैं परन्तु उन में नियमपूर्वक बनने वा बिगड़ने का सामर्थ्य कुछ भी नहीं। क्योंकि जब एक परमाणु द्रव्य किसी का नाम है और स्वभाव से पृथक्-पृथक् रूप और जड़ हैं वे अपने आप यथायोग्य नहीं बन सकते, इसलिये इन का बनाने वाला चेतन अवश्य है और वह बनाने वाला ज्ञानस्वरूप है।

देखो! पृथिवी सूर्यादि सब लोकों को नियम में रखना अनन्त, अनादि, चेतन परमात्मा का काम है। जिन में संयोग रचना विशेष दीखता है वह स्थूल जगत् अनादि कभी नहीं हो सकता। जो कार्य जगत् को नित्य मानोगे तो उस का कारण कोई न होगा किन्तु वही कार्यकारणरूप हो जायगा। जो ऐसा कहोगे तो अपना कार्य्य और कारण आप ही होने से अन्योन्याश्रय और आत्माश्रय दोष आवेगा। जैसे अपने कन्धे पर आप चढ़ना और अपना पिता पुत्र आप नहीं हो सकता। इसलिये जगत् का कर्त्ता अवश्य ही मानना है।

(प्रश्न) जो ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हो तो ईश्वर का कर्त्ता कौन है?

(उत्तर) कर्त्ता का कर्त्ता और कारण का कारण कोई भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम कर्त्ता और कारण के होने से ही कार्य्य होता है। जिस में संयोग वियोग नहीं होता जो प्रथम संयोग वियोग का कारण है उस का कर्त्ता वा कारण किसी प्रकार नहीं हो सकता। इस की विशेष व्याख्या आठवें समुल्लास में सृष्टि की व्याख्या में लिखी है; देख लेना।

इन जैन लोगों को स्थूल बात का भी यथावत् ज्ञान नहीं तो परम सूक्ष्म सृष्टिविद्या का बोध कैसे हो सकता है? इसलिये जो जैनी लोग सृष्टि को अनादि, अनन्त मानते और द्रव्यपर्यायों को भी अनादि अनन्त मानते हैं और प्रतिगुण, प्रतिदेश में पर्यायों और प्रतिवस्तु में भी अनन्त पर्याय को मानते हैं; यह प्रकरणरत्नाकर के प्रथम भाग में लिखा है; यह भी बात कभी नहीं घट सकती। क्योंकि जिन का अन्त अर्थात् मर्यादा होती है उन के सब सम्बन्धी अन्तवाले ही होते हैं। यदि अनन्त को असंख्य कहते तो भी नहीं घट सकता किन्तु जीवापेक्षा में यह बात घट सकती है; परमेश्वर के सामने नहीं। क्योंकि एक-एक द्रव्य में अपने-अपने एक-एक कार्य्यकारण सामर्थ्य को अविभाग पर्यायों से अनन्त सामर्थ्य मानना केवल अविद्या की बात है। जब एक परमाणु द्रव्य की सीमा है तो उस में अनन्त विभागरूप पर्य्याय कैसे रह सकते हैं? ऐसे ही एक-एक द्रव्य में अनन्त गुण और एक गुण प्रदेश में अविभागरूप अनन्त पर्यायों को भी अनन्त मानना केवल बालकपन की बात है। क्योंकि जिस के अधिकरण का अन्त है तो उस में रहने वालों का अन्त क्यों नहीं? ऐसी ही लम्बी चौड़ी मिथ्या बातें लिखी हैं—

अब जीव और अजीव इन दो पदार्थों के विषय में जैनियों का निश्चय ऐसा है—

चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः॥ यह जिनदत्तसूरि का वचन है।

और यही प्रकरणरत्नाकर भाग पहले में नयचक्रसार में भी लिखा है कि चेतनालक्षण जीव और चेतनारहित अजीव अर्थात् जड़ है। सत्कर्मरूप पुद्गल पुण्य और पापकर्मरूप पुद्गल पाप कहाते हैं।

(समीक्षक) जीव और जड़ का लक्षण तो ठीक है परन्तु जो जड़रूप पुद्गल हैं वे पापपुण्ययुक्त कभी नहीं हो सकते, क्योंकि पाप पुण्य करने का स्वभाव चेतन में होता है। देखो! ये जितने जड़ पदार्थ हैं—वे सब पाप, पुण्य से रहित हैं। जो जीवों को अनादि मानते हैं यह तो ठीक है परन्तु उसी अल्प और अल्पज्ञ जीव को मुक्ति दशा में सर्वज्ञ मानना झूठ है। क्योंकि जो अल्प और अल्पज्ञ है उस का सामर्थ्य भी सर्वदा ससीम रहेगा।

जैनी लोग जगत् जीव, जीव के कर्म और बन्ध अनादि मानते हैं। यहां भी जैनियों के तीर्थङ्कर भूल गये हैं क्योंकि संयुक्त जगत् का कार्य्यकारण, प्रवाह से कार्य, और जीव के कर्म, बन्ध भी अनादि नहीं हो सकते। जब ऐसा मानते हो तो कर्म और बन्ध का छूटना क्यों मानते हो? क्योंकि जो अनादि पदार्थ है वह कभी नहीं छूट सकता। जो अनादि का भी नाश मानोगे तो तुम्हारे सब अनादि पदार्थों के नाश का प्रसंग होगा। और जब अनादि को नित्य मानोगे तो कर्म और बन्ध भी नित्य होगा। और जब सब कर्मों के छूटने से मुक्ति मानते हो तो सब कर्मों का छूटनारूप मुक्ति का निमित्त हुआ। तब नैमित्तिकी मुक्ति होगी जो सदा नहीं रह सकेगी और कर्म कर्ता का नित्य सम्बन्ध होने से कर्म भी कभी न छूटेंगे। पुनः जब तुम ने अपनी मुक्ति और तीर्थङ्करों की मुक्ति नित्य मानी है सो नहीं बन सकेगी।

(प्रश्न) जैसे धान्य का छिलका उतारने वा अग्नि के संयोग होने से वह बीज पुनः नहीं उगता इसी प्रकार मुक्ति में गया हुआ जीव पुनः जन्ममरणरूप संसार में नहीं आता।

(उत्तर) जीव और कर्म का सम्बन्ध छिलके और बीज के समान नहीं है किन्तु इन का समवाय सम्बन्ध है। इस से अनादि काल से जीव और उस में कर्म और कर्तृत्वशक्ति का सम्बन्ध है। जो उस में कर्म करने की शक्ति का भी अभाव मानोगे तो सब जीव पाषाणवत् हो जायेंगे और मुक्ति को भोगने का ही सामर्थ्य नहीं रहेगा। जैसे अनादि काल का कर्म-बन्धन छूट कर जीव मुक्त होता है तो तुम्हारी नित्य मुक्ति से भी छूट कर बन्धन में पड़ेगा। क्योंकि जैसे कर्मरूप मुक्ति के साधनों से भी छूट कर जीव का मुक्त होना मानते हो वैसे ही नित्य मुक्ति से भी छूट के बन्धन में पड़ेगा। साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य कभी नहीं हो सकता और जो साधन सिद्ध के बिना मुक्ति मानोगे तो कर्मों के बिना ही बन्ध प्राप्त हो सकेगा। जैसे वस्त्रों में मैल लगता और धोने से छूट जाता है पुनः मैल लग जाता है। वैसे मिथ्यात्वादि हेतुओं से राग, द्वेषादि के आश्रय से जीव को कर्मरूप मल लगता है और जो सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र से निर्मल होता है। और मल लगने के कारणों से मलों का लगना मानते हो तो मुक्त जीव संसारी और संसारी जीव का मुक्त होना अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि जैसे निमित्तों से मलिनता छूटती है वैसे

निमित्तों से मलिनता लग भी जायेगी। इसलिये जीव को बन्ध और मुक्ति प्रवाहरूप से अनादि मानो; अनादि अनन्तता से नहीं।

(प्रश्न) जीव निर्मल कभी नहीं था किन्तु मलसहित है।

(उत्तर) जो कभी निर्मल नहीं था तो निर्मल भी कभी नहीं हो सकेगा। जैसे शुद्ध वस्त्र में पीछे से लगे हुए मैल को धोने से छुड़ा देते हैं। उस के स्वाभाविक श्वेत वर्ण को नहीं छुड़ा सकते। मैल फिर भी वस्त्र में लग जाता है। इसी प्रकार मुक्ति में भी लगेगा।

(प्रश्न) जीव पूर्वोपार्जित कर्म ही से स्वयं शरीर धारण कर लेता है। ईश्वर का मानना व्यर्थ है।

(उत्तर) जो केवल कर्म ही शरीर धारण में निमित्त हो; ईश्वर कारण न हो तो वह जीव बुरा जन्म कि जहां बहुत दुःख हो उस को धारण कभी न करे किन्तु सदा अच्छे-अच्छे जन्म धारण किया करे। जो कहो कि कर्म प्रतिबन्धक है तो भी जैसे चोर आप से आके बन्दीगृह में नहीं जाता और स्वयं फांसी भी नहीं खाता किन्तु राजा देता है। इसी प्रकार जीव को शरीर धारण कराने और उस के कर्मानुसार फल देने वाले परमेश्वर को तुम भी मानो।

(प्रश्न) मद (नशा) के समान कर्मफल स्वयं प्राप्त होता है। फल देने में दूसरे की आवश्यकता नहीं।

(उत्तर) जो ऐसा हो तो जैसे मदपान करने वालों को मद कम चढ़ता; अनभ्यासी को बहुत चढ़ता है। वैसे नित्य बहुत पाप, पुण्य करने वालों को न्यून और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा पाप, पुण्य करने वालों को अधिक फल होना चाहिए और छोटे कर्म वालों को अधिक फल होवे।

(प्रश्न) जिस का जैसा स्वभाव होता है उस को वैसा ही फल हुआ करता है।

(उत्तर) जो स्वभाव से है तो उस का छूटना वा मिलना नहीं हो सकता। हां! जैसे शुद्ध वस्त्र में निमित्तों से मल लगता है उस के छुड़ाने के निमित्तों से छूट भी जाता है; ऐसा मानना ठीक है।

(प्रश्न) संयोग के विना कर्म परिणाम को प्राप्त नहीं होता। जैसे दूध और खटाई के संयोग के विना दही नहीं होता। इसी प्रकार जीव और कर्म के योग से कर्म का परिणाम होता है।

(उत्तर) जैसे दूध और खटाई को मिलाने वाला तीसरा होता है वैसे ही जीवों को कर्मों के फल के साथ मिलाने वाला तीसरा ईश्वर होना चाहिये। क्योंकि जड़ पदार्थ स्वयं नियम से संयुक्त नहीं होते और जीव भी अल्पज्ञ होने से स्वयम् अपने कर्मफल को प्राप्त नहीं हो सकते। इस से यह सिद्ध हुआ कि विना ईश्वरस्थापित सृष्टिक्रम के कर्मफलव्यवस्था नहीं हो सकती।

(प्रश्न) जो कर्म से मुक्त होता है वही ईश्वर कहाता है।

(उत्तर) जब अनादि काल से जीव के साथ कर्म लगे हैं उन से जीव मुक्त कभी नहीं हो सकेंगे।

(प्रश्न) कर्म का बन्ध सादि है।

(उत्तर) जो सादि है तो कर्म का योग अनादि नहीं और संयोग के आदि में जीव निष्कर्म होगा और जो निष्कर्म को कर्म लग गया तो मुक्तों को भी लग जायगा और कर्म कर्त्ता का समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध होता है यह कभी नहीं

छूटता, इसलिये जैसा ९वें समुल्लास में लिख आये हैं वैसा ही मानना ठीक है।

जीव चाहै जैसा अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ावे तो भी उस में परिमित ज्ञान और ससीम सामर्थ्य रहेगा। ईश्वर के समान कभी नहीं हो सकता। हां! जितना सामर्थ्य बढ़ना उचित है उतना योग से बढ़ा सकता है।

और जैनियों में आर्हत लोग देह के परिमाण से जीव का भी परिमाण मानते हैं उन से पूछना चाहिये कि जो ऐसा हो तो हाथी का जीव कीड़ी में और कीड़ी का जीव हाथी में कैसे समा सकेगा? यह भी एक मूर्खता की बात है। क्योंकि जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है जो कि एक परमाणु में भी रह सकता है परन्तु उस की शक्तियां शरीर में प्राण, बिजुली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं। उन से सब शरीर का वर्त्तमान जानता है। अच्छे संग से अच्छा और बुरे संग से बुरा हो जाता है। अब जैन लोग धर्म इस प्रकार का मानते हैं—

मूल— रे जीव भव दुहाइं, इक्कं चिय हरइ जिणमयं धम्मं।
इयराणं पणमंतो, सुह कय्ये मूढ मुसिओसि॥

—प्रकरणरत्नाकर, भाग २। षष्टीशतक ६०। सूत्राङ्क ३॥

संक्षेप से अर्थ—रे जीव! एक ही जिनमत श्रीवीतरागभाषित धर्म संसार सम्बन्धी जन्म, जरा, मरणादि दुःखों का हरणकर्त्ता है। इसी प्रकार सुदेव और सुगुरु भी जैन मत वाले को जानना। इतर जो वीतराग ऋषभदेव से लेके महावीर पर्य्यन्त वीतराग देवों से भिन्न अन्य हरि, हर, ब्रह्मादि कुदेव हैं उन की अपने कल्याणार्थ जो जीव पूजा करते हैं वे सब मनुष्य ठगाये गये हैं।

इस का यह भावार्थ है कि जैनमत के सुदेव सुगुरु तथा सुधर्म को छोड़ के अन्य कुदेव कुगुरु तथा कुधर्म को सेवन से कुछ भी कल्याण नहीं होता। ३॥

(समीक्षक) अब विद्वानों को विचारना चाहिये कि कैसे निन्दायुक्त इन के धर्म के पुस्तक हैं।

मूल—अरिहं देवो सुगुरु सुद्धं धम्मं च पंच नवकारो।
धन्नाणं कयच्छाणं, निरन्तरं वसइ हिययम्मि॥

—प्रक० भा०२। षष्टी० ६०। सूत्र० १॥

जो अरिहन् देवेन्द्रकृत पूजादिकन के योग्य दूसरा पदार्थ उत्तम कोई नहीं ऐसा जो देवों का देव शोभायमान अरिहन्त देव ज्ञान क्रियावान्, शास्त्रों का उपदेष्टा, शुद्ध कषाय मलरहित सम्यक्त्व विनय दयामूल श्रीजिनभाषित जो धर्म है वही दुर्गति में पड़ने वाले प्राणियों का उद्धार करने वाला है और अन्य हरिहरादि का धर्म संसार से उद्धार करने वाला नहीं। और पञ्च अरिहन्तादिक परमेष्ठी तत्सम्बन्धी उन को नमस्कार। ये चार पदार्थ धन्य हैं अर्थात् श्रेष्ठ हैं अर्थात् दया, क्षमा, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह जैनों का धर्म है॥ १॥

(समीक्षक) जब मनुष्यमात्र पर दया नहीं वह दया न क्षमा। ज्ञान के बदले अज्ञान दर्शन अन्धेर और चारित्र के बदले भूखे मरना कौनसी अच्छी बात है?

जैन मत के धर्म की प्रशंसा—

मूल— जइ न कुणसि तव चरणं, न पढसि न गुणेसि देसि नो दाणम्।
ता इत्तियं न सक्किसि, जं देवो इक्क अरिहन्तो॥

—प्रकरण० भा० २। षष्टी ६०। सू० २।

हे मनुष्य! जो तू तप चारित्र नहीं कर सकता, न सूत्र पढ़ सकता, न प्रकरणादि

का विचार कर सकता और सुपात्रादि को दान नहीं दे सकता तो भी जो तू देवता एक अरिहन्त ही हमारे आराधना के योग्य सुगुरु सुधर्म जैन मत में श्रद्धा रखना सर्वोत्तम बात और उद्धार का कारण है॥ २॥

(समीक्षक) यद्यपि दया और क्षमा अच्छी वस्तु है तथापि पक्षपात में फंसने से दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाती है। इस का प्रयोजन यह है कि किसी भी जीव को दुःख न देना यह बात सर्वथा सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि दुष्टों को दण्ड देना भी दया में गणनीय है। जो एक दुष्ट को दण्ड न दिया जाय तो सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त हो, इसलिये वह दया अदया और क्षमा अक्षमा हो जाय।

यह तो ठीक है कि सब प्राणियों के दुःखनाश और सुख की प्राप्ति का उपाय करना दया कहाती है। केवल जल छान के पीना, क्षुद्र जन्तुओं को बचाना ही दया नहीं कहाती किन्तु इस प्रकार की दया जैनियों के कथनमात्र ही है क्योंकि वैसा वर्त्तते नहीं। क्या मनुष्यादि पर चाहें किसी मत में क्यों न हो दया करके उस को अन्नपानादि से सत्कार करना और दूसरे मत के विद्वानों का मान्य और सेवा करना दया नहीं है?

जो इन की सच्ची दया होती तो 'विवेकसार' के पृष्ठ २२१ में देखो क्या लिखा है। एक 'परमती की स्तुति' अर्थात् उन का गुणकीर्तन कभी न करना। दूसरा 'उनको नमस्कार' अर्थात् वन्दना भी न करनी। तीसरा 'आलपन' अर्थात् अन्य मत वालों के साथ थोड़ा बोलना। चौथा 'संलपन' अर्थात् उन से बार-बार न बोलना। पांचवां 'उन को अन्न वस्त्रादि दान' अर्थात् उन को खाने पीने की वस्तु भी न देनी। छठा 'गन्धपुष्पादि दान' अन्य मत की प्रतिमा पूजन के लिए गन्धपुष्पादि भी न देना। ये **छः यतना** अर्थात् इन छः प्रकार के कर्मों को जैन लोग कभी न करें।

(समीक्षक) अब बुद्धिमानों को विचारना चाहिए कि इन जैनी लोगों की अन्य मत वाले मनुष्यों पर कितनी अदया, कुदृष्टि और द्वेष है। जब अन्य मतस्थ मनुष्यों पर इतनी अदया है तो फिर जैनियों को दयाहीन कहना सम्भव है क्योंकि अपने घर वालों ही की सेवा करना विशेष धर्म नहीं कहाता। उन के मत के मनुष्य उन के घर के समान हैं। इसलिए उन की सेवा करते; अन्य मतस्थों की नहीं; फिर उन को दयावान् कौन बुद्धिमान् कह सकता है?

विवेक० पृष्ठ १०८ में लिखा है कि मथुरा के राजा के नमुची नामक दीवान को जैनयतियों ने अपना विरोधी समझ कर मार डाला और आलोयणा करके शुद्ध हो गये।

(समीक्षक) क्या यह भी दया और क्षमा का नाशक कर्म नहीं है? जब अन्य मत वालों पर प्राण लेने पर्यन्त वैरबुद्धि रखते हैं तो इन को दयालु के स्थान पर हिंसक कहना ही सार्थक है।

अब सम्यक्त्व दर्शनादि के लक्षण आर्हत प्रवचनसंग्रह परमागम सार में कथित हैं। सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये चार मोक्ष मार्ग के साधन हैं। इन की व्याख्या योगदेव ने की है। जिस रूप से जीवादि द्रव्य अवस्थित हैं उसी रूप से जिनप्रतिपादित ग्रन्थानुसार विपरीत अभिनिवेशादिरहित जो श्रद्धा अर्थात् जिनमत में प्रीति है सो 'सम्यक् श्रद्धान' और 'सम्यक् दर्शन है'।

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते।

जिनोक्त तत्त्वों में सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिए अर्थात् अन्यत्र कहीं नहीं।

यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः॥

जिस प्रकार के जीवादि तत्त्व हैं उन का संक्षेप वा विस्तार से जो बोध होता है उसी को 'सम्यक् ज्ञान' बुद्धिमान् कहते हैं।

सर्वथाऽनवद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते।
कीर्त्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा।
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः ॥

सब प्रकार से निन्दनीय अन्य मत सम्बन्ध का त्याग चारित्र कहाता है और अहिंसादि भेद से पांच प्रकार का व्रत है। एक (अहिंसा) किसी प्राणिमात्र का न मारना। दूसरा (सूनृता) प्रिय वाणी बोलना। तीसरा (अस्तेय) चोरी न करना। चौथा (ब्रह्मचर्य्य) उपस्थ इन्द्रिय का संयमन। और पांचवां (अपरिग्रह) सब वस्तुओं का त्याग करना।

इन में बहुत सी बातें अच्छी हैं अर्थात् अहिंसा और चोरी आदि निन्दनीय कर्मों का त्याग अच्छी बात है परन्तु ये सब अन्य मत की निन्दा करनी आदि दोषों से सब अच्छी बातें भी दोषयुक्त हो गई हैं। जैसे प्रथम सूत्र में लिखी है—'अन्य हरिहरादि का धर्म संसार में उद्धार करने वाला नहीं। क्या यह छोटी निन्दा है कि जिन के ग्रन्थ देखने से ही पूर्ण विद्या और धार्मिकता पाई जाती है उन को बुरा कहना? और अपने महा असम्भव जैसा कि पूर्व लिख आये वैसी बातों के कहने वाले अपने तीर्थङ्करों की स्तुति करना? केवल हठ की बातें हैं। भला जो जैनी कुछ चारित्र न कर सके, न पढ़ सके, न दान देने का सामर्थ्य हो तो भी जैन मत सच्चा है। क्या इतना कहने ही से वह उत्तम हो जाये? और अन्य मत वाले श्रेष्ठ भी अश्रेष्ठ हो जायें? ऐसे कथन करने वाले मनुष्यों को भ्रान्त और बालबुद्धि न कहा जाय तो क्या कहें?

इस में यही विदित होता है कि इनके आचार्य स्वार्थी थे; पूर्ण विद्वान् नहीं। क्योंकि जो सब की निन्दा न करते तो ऐसी झूठी बातों में कोई न फंसता, न उन का प्रयोजन सिद्ध होता। देखो! यह तो सिद्ध होता है कि जैनियों का मत डुबाने वाला और वेदमत सब का उद्धार करनेहारा, हरिहरादि देव सुदेव और इन के ऋषभदेवादि सब कुदेव दूसरे लोग कहें तो क्या वैसा ही इन को बुरा न लगेगा? और भी इन के आचार्य्य और मानने वालों की भूल देख लो—

मूल— जिणवर आणा भंगं, उमग्ग उस्सुत्त लेस देसणउ।
आणा भंगे पावं ता जिणमय दुक्करं धम्मम्॥

—प्रकरण भाग २। षष्टी श० ६१। सू० ११॥

उन्मार्ग उत्सूत्र के लेख दिखाने से जो जिनवर अर्थात् वीतराग तीर्थङ्करों की आज्ञा का भंग होता है वह दुःख का हेतु पाप है। जिनेश्वर कहे सम्यक्त्वादि धर्म ग्रहण करना बड़ा कठिन है। इसलिये जिस प्रकार जिन आज्ञा का भंग न हो वैसा करना चाहये॥ ११॥

(समीक्षक) जो अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा और अपने ही धर्म को बड़ा कहना और दूसरे की निन्दा करनी है वह मूर्खता की बात है क्योंकि प्रशंसा उसी की ठीक है कि जिस की दूसरे विद्वान् करें। अपने मुख से अपनी प्रशंसा तो चोर भी करते हैं तो क्या वे प्रशंसनीय हो सकते हैं? इसी प्रकार की इन की बातें हैं।

मूल– बहुगुण विज्झा निलओ, उसुत्त भासी तहा विमुत्तव्वो।
जह वर मणि जुत्तो विहु, विग्घकरी विसहरो लोए॥

–प्रकरण भा०२। षष्टी० सू० १८।

जैसे विषधर सर्प में मणि त्यागने योग्य है वैसे जो जैनमत में नहीं वह चाहै कितना बड़ा धार्मिक पण्डित हो उस को त्याग देना ही जैनियों को उचित है॥ १८॥

(समीक्षक) देखिये! कितनी भूल की बात है। जो इन के चेले और आचार्य्य विद्वान् होते तो विद्वानों से प्रेम करते। जब इन के तीर्थङ्कर सहित अविद्वान् हैं तो विद्वानों का मान्य क्यों करें? क्या सुवर्ण को मल वा धूल में पड़े को कोई त्यागता है? इस से यह सिद्ध हुआ कि विना जैनियों के वैसे दूसरे कौन पक्षपाती हठी दुराग्रही विद्याहीन होंगे?

मूल– अइसय पाविय पावा, धम्मिअ पव्वेसु तोवि पाव रया।
न चलन्ति सुद्ध धम्मा, धन्ना किविपाव पव्वेसु॥

–प्रकरण भा० २। षष्टी० सू० २९॥

अन्य दर्शनी कुलिंगी अर्थात् जैनमत विरोधी उन का दर्शन भी जैनी लोग न करें॥ २९॥

(समीक्षक) बुद्धिमान् लोग विचार लेंगे कि यह कितनी पामरपन की बात है। सच तो यह है कि जिस का मत सत्य है उस को किसी से डर नहीं होता। इन के आचार्य जानते थे कि हमारा मत पोलपाल है जो दूसरे को सुनावेंगे तो खण्डन हो जायेगा इसलिये सब की निन्दा करो और मूर्ख जनों को फंसाओ।

मूल– नामंपि तस्स असुहं, जेण निदिठाइ मिच्छ पव्वाइ।
जेसिं अणुसंगाउ, धम्मीणवि होइ पाव मई॥

–प्रक०भा० २। षष्टी० सू० २७॥

जो जैनधर्म से विरुद्ध धर्म हैं वे मनुष्यों को पापी करने वाले हैं इसलिये किसी के अन्य धर्म को न मान कर जैनधर्म ही को मानना श्रेष्ठ है॥ २७॥

(समीक्षक) इस से यह सिद्ध होता है कि सब से वैर, विरोध, निन्दा, ईर्ष्या आदि दुष्ट कर्मरूप सागर में डुबाने वाला जैन मार्ग है। जैसे जैनी लोग सब के निन्दक हैं वैसा कोई भी दूसरा मत वाला महानिन्दक और अधर्मी न होगा। क्या एक ओर से सब की निन्दा और अपनी अतिप्रशंसा करना शठ मनुष्यों की बातें नहीं हैं? विवेकी लोग तो चाहें किसी के मत के हों उन में अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहते हैं।

मूल– हा हा गुरु अ अकज्झं, सामी न हु अच्छि कस्स पुक्करिमो।
कह जिण वयण कह सुगुरु; सावया कह इय अकज्झं॥

–प्रक० भा० २। षष्टी सू० ३५॥

सर्वज्ञभाषित जिन वचन, जैन के सुगुरु और जैनधर्म कहां और उन से विरुद्ध कुगुरु अन्य मार्गी के उपदेशक कहां अर्थात् हमारे सुगुरु, सुदेव, सुधर्म और अन्य के कुदेव, कुगुरु, कुधर्म हैं॥ ३५॥

(समीक्षक) यह बात बेर बेचनेहारी कूंजड़ी के समान है। जैसे वह अपने खट्टे बेरों को मीठा और दूसरी के मीठों को भी खट्टा और निकम्मे बतलाती

है, इसी प्रकार की जैनियों की बातें हैं। ये लोग अपने मत से भिन्न मत वालों की सेवा में बड़ा अकार्य्य अर्थात् पाप गिनते हैं।

मूल—सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु आणंताइ देइ मरणाइ।
तो वरिसप्पं गहियुं, मा कुगुरुसेवणं भद्दम्॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० ३७॥

जैसे प्रथम लिख आये कि सर्प में मणि का भी त्याग करना उचित है वैसे अन्यमार्गियों में श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों का भी त्याग कर देना। अब उस से भी विशेष निन्दा अन्य मत वालों की करते हैं—जैनमत से भिन्न सब कुगुरु अर्थात् वे सर्प्प से भी बुरे हैं। उन का दर्शन, सेवा, संग कभी न करना चाहिये। क्योंकि सर्प्प के संग से एक बार मरण होता है और अन्यमार्गी कुगुरुओं के संग से अनेक बार जन्म मरण में गिरना पड़ता है। इसलिए हे भद्र! अन्यमार्गियों के गुरुओं के पास भी मत खड़ा रह क्योंकि जो तू अन्यमार्गियों की कुछ भी सेवा करेगा तो दुःख में पड़ेगा॥ ३७॥

(समीक्षक) देखिये! जैनियों के समान कठोर, भ्रान्त, द्वेषी, निन्दक, भूले हुए दूसरे मतवाले कोई भी न होंगे। इन्होंने मन से यह विचारा है कि जो हम अन्य की निन्दा और अपनी प्रशंसा न करेंगे तो हमारी सेवा और प्रतिष्ठा न होगी। परन्तु यह बात उन के दौर्भाग्य की है क्योंकि जब तक उत्तम विद्वानों का संग सेवा न करेंगे तब तक इन को यथार्थ ज्ञान और सत्य धर्म की प्राप्ति कभी न होगी। इसलिए जैनियों को उचित है कि अपनी विद्याविरुद्ध मिथ्या बातें छोड़ वेदोक्त सत्य बातों का ग्रहण करें तो उन के लिये बड़े कल्याण की बात है।

मूल—किं भणिमो किं करिमो, ताण हयासाण धिट्ठ दुट्ठाणं।
जे दंसि ऊण लिंगं खिवंति न रयम्मि मुद्ध जणं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० ४०॥

जिस की कल्याण की आशा नष्ट हो गई; धीठ, बुरे काम करने में अतिचतुर दुष्ट दोष वाले से क्या कहना? और क्या करना? क्योंकि जो उस का उपकार करो तो उलटा उस का नाश करे। जैसे कोई दया करके अन्धे सिंह की आंख खोलने को जाये तो वह उसी को खा लेवे। वैसे ही कुगुरु अर्थात् अन्यमार्गियों का उपकार करना अपना नाश कर लेना है अर्थात् उनसे सदा अलग ही रहना॥ ४०॥

(समीक्षक) जैसे जैन लोग विचारते हैं वैसे दूसरे मत वाले भी विचारें तो जैनियों की कितनी दुर्दशा हो? और उन का कोई किसी प्रकार का उपकार न करे तो उन के बहुत से काम नष्ट होकर कितना दुःख प्राप्त हो? वैसा अन्य के लिये जैनी क्यों नहीं विचारते?

मूल—जह जह तुट्टइ धम्मो, जह जह दुट्ठाण होई अइ उदउ।
समद्दिट्ठि जियाणं, तह तह उल्लसइ समत्तं॥

—प्रक० भा०२। षष्टी० सू० ४२॥

जैसे-जैसे दर्शनभ्रष्ट निह्नव, पाच्छत्ता, उसन्ना तथा कुसीलियादिक और अन्य दर्शनी, त्रिदण्डी, परिव्राजक तथा विप्रादिक दुष्ट लोगों का अतिशय बल सत्कार पूजादिक होवे वैसे-वैसे सम्यग्दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व विशेष प्रकाशित होवे यह बड़ा आश्चर्य है॥ ४२॥

(समीक्षक) अब देखो! क्या इन जैनों से अधिक ईर्ष्या, द्वेष, वैरबुद्धियुक्त

दूसरा कोई होगा? हां दूसरे मत में भी ईर्ष्या, द्वेष है परन्तु जितनी इन जैनियों में है उतनी किसी में नहीं। और द्वेष ही पाप का मूल है इसलिए जैनियों में पापाचार क्यों न हो?।

मूल— संगोवि जाण अहिउ, तेसि धम्माइ जे पकुव्वन्ति।
मुत्तूण चोर संगं, करन्ति ते चोरियं पावा॥

—प्रक०भा० २। षष्टी० सू० ७५॥

इस का मुख्य प्रयोजन इतना ही है कि जैसे मूढ़जन चोर के संग से नासिकाछेदादि दण्ड से भय नहीं करते वैसे जैनमत से भिन्न चोर धर्मों में स्थित जन अपने अकल्याण से भय नहीं करते॥ ७५॥

(समीक्षक) जो जैसा मनुष्य होता है वह प्रायः अपने ही सदृश दूसरों को समझता है। क्या यह बात सत्य हो सकती है कि अन्य सब चोरमत और जैन का साहूकार मत है? जब तक मनुष्य में अति अज्ञान और कुसंग से भ्रष्ट बुद्धि होती है तब तक दूसरों के साथ अति ईर्ष्या, द्वेषादि दुष्टता नहीं छोड़ता। जैसा जैनमत पराया द्वेषी है ऐसा अन्य कोई नहीं।

मूल— जच्छ पसुमहिसलरका पव्वं होमन्ति पाव नवमीए।
पूअन्ति तंपि सढ्ढा, हा हीला वीयरायस्स॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० ७६॥

पूर्व सूत्र में जो मिथ्यात्वी अर्थात् जैनमार्ग भिन्न सब मिथ्यात्वी और आप सम्यक्त्वी अर्थात् अन्य सब पापी, जैन लोग सब पुण्यात्मा, इसलिये जो कोई मिथ्यात्वी के धर्म का स्थापन करे वही पापी है॥ ७६॥

(समीक्षक) जैसे अन्य के स्थानों में चामुण्डा, कालिका, ज्वाला, प्रमुख के आगे पापनौमी अर्थात् दुर्गानौमी तिथि आदि सब बुरे हैं वैसे क्या तुम्हारे पजूसण आदि व्रत बुरे नहीं हैं जिन से महाकष्ट होता है? यहां वाममार्गियों की लीला का खण्डन तो ठीक है परन्तु जो शासनदेवी और मरुत्देवी आदि को मानते हैं उन का भी खण्डन करते तो अच्छा था। जो कहैं कि हमारी देवी हिंसक नहीं तो इन का कहना मिथ्या है क्योंकि शासनदेवी ने एक पुरुष और दूसरे बकरे की आंखें निकाल ली थीं। पुनः वह राक्षसी और दुर्गा कालिका की सगी बहिन क्यों नहीं? और अपने पच्चखाण आदि व्रतों को अतिश्रेष्ठ और नवमी आदि को दुष्ट कहना मूढ़ता की बात है क्योंकि दूसरे के उपवासों की तो निन्दा और अपने उपवासों की स्तुति करना मूर्खता की बात है। हां! जो सत्यभाषणादि व्रत धारण करने हैं वे तो सब के लिए उत्तम हैं। जैनियों और अन्य किसी का उपवास सत्य नहीं है।

मूल— वेसाण वंदियाणय, माहण डुंबाण जरकसिरकाणं।
भत्ता भरकट्ठाणं, वियाणं जन्ति दूरेणं॥

—प्रक०भा० २। षष्टी० सू० ८२॥

इस का मुख्य प्रयोजन यह है कि जो वेश्या, चारण, भाटादि लोगों, ब्राह्मण, यक्ष, गणेशादिक मिथ्यादृष्टि देवी आदि देवताओं का भक्त है जो इन के मानने वाले हैं वे सब डूबने और डुबाने वाले हैं क्योंकि उन्हीं के पास वे सब वस्तुएं मांगते हैं और वीतराग पुरुषों से दूर रहते हैं॥ ८२॥

(समीक्षक) अन्यमार्गियों के देवताओं को झूठ कहना और अपने देवताओं को सच कहना केवल पक्षपात की बात है। और अन्य वाममार्गियों की देवी आदि

का निषेध करते हैं परन्तु जो 'श्राद्ध दिनकृत्य' के पृष्ठ ४६ में लिखा है कि शासनदेवी ने रात्रि में भोजन करने के कारण एक पुरुष के थपेड़ा मारा उस की आंखें निकाल डालीं। उस के बदले बकरे की आंख निकाल कर उस मनुष्य के लगा दीं। इस देवी को हिंसक क्यों नहीं मानते? रत्नसार भाग १। पृ० ६७ में देखो क्या लिखा है—मरुत्देवी पथिकों को पत्थर की मूर्त्ति होकर सहाय करती थी। इस को भी वैसी क्यों नहीं मानते?

मूल— किं सोपि जणणि जाओ, जाणो जणणीइ किं गओ विद्धिं।
जई मिच्छरओ जाओ, गुणेसु तह मच्छरं वहइ॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० ८१॥

जो जैनमत विरोधी मिथ्यात्वी अर्थात् मिथ्या धर्म वाले हैं वे क्यों जन्मे? जो जन्मे तो बढ़े क्यों? अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो जाते तो अच्छा होता॥ ८१॥

(समीक्षक) देखो! इन के वीतरागभाषित दया, धर्म दूसरे मत वालों का जीवन भी नहीं चाहते। केवल इन की दया धर्म कथनमात्र है। और जो है सो क्षुद्र जीवों और पशुओं के लिये है; जैनभिन्न मनुष्यों के लिये नहीं।

मूल— सुद्धे मग्गे जाया, सुहेण गच्छत्ति सुद्ध मग्गमिं।
जे पुण अमग्गजाया, मग्गे गच्छन्ति तं चुय्यं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० ८३॥

सं० अर्थ—इस का मुख्य प्रयोजन यह है कि जो जैनकुल में जन्म लेकर मुक्ति को जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं परन्तु जैनभिन्न कुल में जन्मे हुए मिथ्यात्वी अन्यमार्गी मुक्ति को प्राप्त हों इस में बड़ा आश्चर्य है। इस का फलितार्थ यह है कि जैनमत वाले ही मुक्ति को जाते हैं अन्य कोई नहीं। जो जैनमत का ग्रहण नहीं करते वे नरकगामी हैं॥ ८३॥

(समीक्षक) क्या जैनमत में कोई दुष्ट वा नरकगामी नहीं होता? सब ही मुक्ति में जाते हैं? और अन्य कोई नहीं? क्या यह उन्मत्तपन की बात नहीं है? विना भोले मनुष्यों के ऐसी बात कौन मान सकता है?

मूल— तिच्छयराणं पूआ, संमत्त गुणाणकारिणी भणिया।
साविय मिच्छत्तयरी, जिण समये देसिया पूआ॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० ९०॥

सं० अर्थ—एक जिन मूर्त्तियों की पूजा सार और इस से भिन्नमार्गियों की मूर्त्तिपूजा असार है। जो जिन मार्ग की आज्ञा पालता है वह तत्त्वज्ञानी जो नहीं पालता है वह तत्त्वज्ञानी नहीं॥ ९०॥

(समीक्षक) वाह जी! क्या कहना!! क्या तुम्हारी मूर्त्ति पाषाणादि जड़ पदार्थों की नहीं जैसी कि वैष्णवादिकों की हैं? जैसी तुम्हारी मूर्त्तिपूजा मिथ्या है वैसी ही मूर्त्तिपूजा वैष्णवादिकों की भी मिथ्या है। जो तुम तत्त्वज्ञानी बनते हो और अन्यों को अतत्त्वज्ञानी बनाते हो इससे विदित होता है कि तुम्हारे मत में तत्त्वज्ञान नहीं है।

मूल— जिन आणाए धम्मो, आणा रहिआण फुड अहमुत्ति।
इय मुणि ऊणय तत्तं, जिण आणा कुणहु धम्मं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० ९२॥

सं०अर्थ—जो जिनदेव की आज्ञा दया क्षमादि रूप धर्म है उस से अन्य सब आज्ञा अधर्म हैं॥ ९२॥

(समीक्षक) यह कितने बड़े अन्याय की बात है। क्या जैनमत से भिन्न कोई

भी पुरुष सत्यवादी धर्मात्मा नहीं है? क्या उस धार्मिक जन को न मानना चाहिये। हां! जो जैनमतस्थ मनुष्यों के मुख जिह्वा चमड़े की न होती और अन्य की चमड़े की होती तो यह बात घट सकती थी। इस से अपने ही मत के ग्रन्थ वचन साधु आदि की ऐसी बड़ाई की है कि जानो भाटों के बड़े भाई ही जैन लोग बन रहे हैं।

मूल— वन्नेमि नारयाउवि, जेसिं दुरकाइ सम्भरं ताणम्।
भव्वाण जणइ हरि हरं, रिद्धि समिद्धीवि उद्घोसं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० ९५॥

सं० अर्थ०—इस का मुख्य तात्पर्य यह है कि जो हरिहरादि देवों की विभूति है वह नरक का हेतु है। उस को देखके जैनियों के रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। जैसे राजाज्ञा भंग करने से मनुष्य मरण तक दुःख पाता है वैसे जिनेन्द्र आज्ञा भंग से क्यों न जन्म मरण दुःख पावेगा?॥ ९५॥

(समीक्षक) देखिये! जैनियों के आचार्य्य आदि की मानसी वृत्ति अर्थात् ऊपर के कपट और ढोंग की लीला। अब तो इन के भीतर की भी खुल गई। हरिहरादि और उन के उपासकों के ऐश्वर्य और बढ़ती को देख भी नहीं सकते। उन के रोमाञ्च इसलिये खड़े होते हैं कि दूसरे की बढ़ती क्यों हुई? बहुधा वैसे चाहते होंगे कि इन का सब ऐश्वर्य हम को मिल जाय और ये दरिद्र हो जायें तो अच्छा। और राजाज्ञा का दृष्टान्त इसलिये देते हैं कि ये जैन लोग राज्य के बड़े खुशामदी झूठे और डरपुकने हैं। क्या झूठी बात भी राजा की मान लेनी चाहिये? जो ईर्ष्या-द्वेषी हो तो जैनियों से बढ़ के दूसरा कोई भी न होगा।

मूल— जो देई सुद्ध धम्मं, सो परमप्पा जयम्मि न हु अन्नो।
किं कप्पद्दुम्म सरिसो, इयर तरू होई कइयावि॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १०१॥

सं०अर्थ—वे मूर्ख लोग हैं जो जैनधर्म से विरुद्ध हैं। और जो जिनेन्द्रभाषित धर्मोपदेष्टा साधु वा गृहस्थ अथवा ग्रन्थकर्त्ता हैं वे तीर्थङ्करों के तुल्य हैं। उन के तुल्य कोई भी नहीं॥ १०१॥

(समीक्षक) क्यों न हो! जो जैनी लोग छोकरबुद्धि न होते तो ऐसी बातें क्यों मान बैठते? जैसे वेश्या विना अपने के दूसरी की स्तुति नहीं करती वैसे ही यह बात भी दीखती है।

मूलं— जे अमुणि य गुण दोषा ते कहअ दुहाण हुंति मझच्छा।
अह ते विहु मझच्छा ता विस अमिआण तुल्लत्तं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १०३॥

सं०अर्थ—जिनेन्द्र देव तदुक्त सिद्धान्त और जिनमत के उपदेष्टाओं का त्याग करना जैनियों को उचित नहीं है॥ १०३॥

(समीक्षक) यह जैनियों का हठ, पक्षपात और अविद्या का फल नहीं तो क्या है? किन्तु जैनियों की थोड़ी सी बात छोड़ के अन्य सब त्यक्तव्य हैं। जिस की कुछ थोड़ी सी भी बुद्धि होगी वह जैनियों के देव, सिद्धान्तग्रन्थ और उपदेष्टाओं को देखे, सुने, विचारे तो उसी समय निःसन्देह छोड़ देगा।

मूल— वयणे वि सुगुरु जिणवल्लहस्स केसिं न उल्लसइ सम्मं।
अह कह दिणमणि तेयं, उलुआणं हरइ अन्धत्तं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १०८॥

सं०अर्थ—जो जिनवचन के अनुकूल चलते हैं वे पूजनीय और जो विरुद्ध चलते हैं वे अपूज्य हैं। जैन गुरुओं को मानना अर्थात् अन्यमार्गियों को न मानना ॥१०८॥

(समीक्षक) भला जो जैन लोग अन्य अज्ञानियों को पशुवत् चेले करके न बांधते तो उन के जाल में से छूट कर अपनी मुक्ति के साधन कर जन्म सफल कर लेते। भला जो कोई तुम को कुमार्गी, कुगुरु, मिथ्यात्वी और कूपदेष्टा कहैं तो तुम को कितना दुःख लगे? वैसे ही जो तुम दूसरे को दुःखदायक हो इसीलिये तुम्हारे मत में असार बातें बहुत सी भरी हैं।

मूल— तिहुअण जणं मरंतं, दट्ठूण निअन्ति जे न अप्पाणं ।
विरमंति न पावाउ, विद्धी धिट्ठत्तणं ताणं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १०९॥

सं०अर्थ—जो मृत्युपर्यन्त दुःख हो तो भी कृषि व्यापारादि कर्म जैनी लोग न करें क्योंकि ये कर्म नरक में ले जाने वाले हैं॥ १०९॥

(समीक्षक) अब कोई जैनियों से पूछे कि तुम व्यापारादि कर्म क्यों करते हो? इन कर्मों को क्यों नहीं छोड़ देते? और जो छोड़ देओ तो तुम्हारे शरीर का पालन, पोषण भी न हो सके और जो तुम्हारे कहने से सब लोग छोड़ दें तो तुम क्या वस्तु खाके जीओगे? ऐसा अत्याचार का उपदेश करना सर्वथा व्यर्थ है। क्या करें विचारे। विद्या, सत्संग के विना जो मन में आया सो बक दिया।

मूल— तइया हमाण अहमा, कारणरहिया अनाणगव्वेण ।
जे जंपन्ति उस्सुत्तं, तेसिं, दिद्धिच्छ पंडिच्चं॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १२१॥

सं०अर्थ०—जो जैनागम से विरुद्ध शास्त्रों को मानने वाले हैं वे अधमाधम हैं। चाहें कोई प्रयोजन भी सिद्ध होता हो तो भी जैन मत से विरुद्ध न बोले; न माने। चाहें कोई प्रयोजन सिद्ध होता है तो भी अन्य मत का त्याग कर दे॥ १२१॥

(समीक्षक) तुम्हारे मूलपुरुषों से ले के आज तक जितने हो गये और होंगे उन्होंने विना दूसरे मत को गालिप्रदान के अन्य कुछ भी दूसरी बात न की और न करेंगे। भला! जहां-जहां जैनी लोग अपना प्रयोजन सिद्ध होता देखते हैं वहां चेलों के भी चेले बन जाते हैं तो ऐसी मिथ्या लम्बी चौड़ी बातों के हांकने में तनिक भी लज्जा नहीं आती यह बड़े शोक की बात है।

मूल— जं वीरजिणस्स जिओ, मिरई उस्सुत्त लेस देसणओ ।
सागर कोडाकोडिं हिंडइ अइभीमभवरण्णे॥

—प्रक०भा० २। षष्टी०सू० १२२॥

सं०अर्थ—जो कोई ऐसा कहे कि जैन साधुओं में धर्म है; हमारे और अन्य में भी धर्म है तो वह मनुष्य क्रोड़ान क्रोड़ वर्ष तक नरक में रह कर फिर भी नीच जन्म पाता है॥ १२२॥

(समीक्षक) वाह रे! वाह!! विद्या के शत्रुओ! तुम ने यही विचारा होगा कि हमारे मिथ्या वचनों को कोई खण्डन न करे इसीलिये यह भयंकर वचन लिखा है सो असम्भव है। अब कहां तक तुम को समझावें। तुम ने तो झूठ निन्दा और अन्य मतों से वैर विरोध करने पर ही कटिबद्ध हो कर अपना प्रयोजन सिद्ध करना मोहनभोग के समान समझ लिया है।

मूल– दूरे करणं दूरम्मि साहणं तह पभावणा दूरे।
जिण धम्म सद्दहाणं पि तिरकदुरकाइ निट्ठवइ॥

–प्रक०भा० २। षष्टी०सू० १२७॥

सं०अर्थ–जिस मनुष्य से जैन धर्म का कुछ भी अनुष्ठान न हो सके तो भी जो 'जैन धर्म सच्चा है अन्य कोई नहीं' इतनी श्रद्धामात्र ही से दुःखों से तर जाता है॥ १२७॥

(समीक्षक) भला! इस से अधिक मूर्खों को अपने मतजाल में फंसाने की दूसरी कौन सी बात होगी? क्योंकि कुछ कर्म करना न पड़े और मुक्ति हो ही जाय ऐसा भूंदू मत कौन सा होगा?

मूल– कइया होही दिवसो, जइया सुगुरूण पायमूलम्मि।
उस्सुत्त लेस विसलव, रहिओ निसुणेसु जिण धम्मं॥

–प्रक०भा० २। षष्टी०सू० १२८॥

सं०अर्थ–जो मनुष्य जिनागम अर्थात् जैनों के शास्त्रों को सुनूंगा, उत्सूत्र अर्थात् अन्य मत के ग्रन्थों को कभी न सुनूंगा। इतनी इच्छा करे वह इतनी इच्छामात्र ही से दुःखसागर से तर जाता है॥ १२८॥

(समीक्षक) यह भी बात भोले मनुष्यों को फंसाने के लिए है। क्योंकि इस पूर्वोक्त इच्छा से यहां के दुःखसागर से भी नहीं तरता और पूर्वजन्म के भी संचित पापों के दुःखरूपी फल भोगे विना नहीं छूट सकता। जो ऐसी-ऐसी झूठ अर्थात् विद्याविरुद्ध बातें न लिखते तो इन के अविद्यारूप ग्रन्थों को वेदादि शास्त्र देख सुन सत्याऽसत्य जान कर इनके पोकल ग्रन्थों को छोड़ देते। परन्तु ऐसा जकड़ कर इन अविद्वानों को बांधा है कि इस जाल से कोई एक बुद्धिमान् सत्संगी चाहें छूट सके तो सम्भव है परन्तु अन्य जड़बुद्धियों का छूटना तो अति कठिन है।

मूल– जम्हा जेणहिं भणियं, सुय ववहारं विसोहियं तस्स।
जायइ विसुद्ध बोही, जिण आणाराहगत्ताओ॥

–प्रक०भा० २। षष्टी०सू० १३८॥

सं०अर्थ–जो जिनाचार्यों ने कहे सूत्र निरुक्ति वृत्ति भाष्यचूर्णी मानते हैं वे ही शुभ व्यवहार और दुःसह व्यवहार के करने से चारित्रयुक्त होकर सुखों को प्राप्त होते हैं; अन्य मत के ग्रन्थ देखने से नहीं॥ १३८॥

(समीक्षक) क्या अत्यन्त भूखे मरने आदि कष्ट सहने को चारित्र कहते हैं? जो भूखा, प्यासा मरना आदि ही चारित्र है तो बहुत से मनुष्य अकाल वा जिन को अन्नादि नहीं मिलते भूखे मरते हैं वे शुद्ध हो कर शुभ फलों को प्राप्त होने चाहिये। सो न ये शुद्ध होवें और न तुम किन्तु पित्तादि के प्रकोप से रोगी होकर सुख के बदले दुःख को प्राप्त होते हैं। धर्म तो न्यायाचरण, ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषणादि है और असत्यभाषण अन्यायाचरणादि पाप है और सब से प्रीतिपूर्वक परोपकारार्थ वर्त्तना शुभ चरित्र कहाता है। जैनमतस्थों का भूखा, प्यासा रहना आदि धर्म नहीं। इन सूत्रादि को मानने से थोड़ा सा सत्य और अधिक झूठ को प्राप्त होकर दुःखसागर में डूबते हैं।

मूल– जइ जाणिसि जिण नाहो, लोयायारा विपरकए भूओ।
ता तं तं मन्नंतो, कह मन्नसि लोअ आयारं॥

–प्रक०भा० २। षष्टी०सू० १४८॥

सं०अर्थ—जो उत्तम प्रारब्धवान् मनुष्य होते हैं वे ही जिन धर्म का ग्रहण करते हैं अर्थात् जो जिनधर्म्म का ग्रहण नहीं करते उन का प्रारब्ध नष्ट है॥ १४८॥

(समीक्षक) क्या यह बात भूल की और झूठ नहीं? क्या अन्य मत में श्रेष्ठ प्रारब्धी और जैन मत में नष्ट प्रारब्धी कोई भी नहीं है? और जो यह कहा कि सधर्मी अर्थात् जैन धर्म वाले आपस में क्लेश न करें किन्तु प्रीतिपूर्वक वर्त्तें। इस से यह बात सिद्ध होती है कि दूसरे के साथ कलह करने में बुराई जैन लोग नहीं मानते होंगे। यह भी इन की बात अयुक्त है क्योंकि सज्जन पुरुष सज्जनों के साथ प्रेम और दुष्टों को शिक्षा देकर सुशिक्षित करते हैं। और जो यह लिखा कि ब्राह्मण, त्रिदण्डी, परिव्राजकाचार्य अर्थात् संन्यासी और तापसादि अर्थात् वैरागी आदि सब जैनमत के शत्रु हैं। अब देखिये कि सब को शत्रुभाव से देखते और निन्दा करते हैं तो जैनियों की दया और क्षमारूप धर्म कहां रहा? क्योंकि जब दूसरे पर द्वेष रखना दया, क्षमा का नाश और इस के समान कोई दूसरा हिंसारूप दोष नहीं। जैसे द्वेषमूर्त्तियां जैनी लोग हैं वैसे दूसरे थोड़े ही होंगे। ऋषभदेव से लेके महावीरपर्यन्त २४ तीर्थङ्करों को रागी, द्वेषी, मिथ्यात्वी कहें और जैनमत मानने वालों को सन्निपातज्वर में फंसे हुए मानें और उन का धर्म नरक और विष के समान समझें तो जैनियों को कितना बुरा लगेगा? इसलिये जैनी लोग निन्दा और परमतद्वेषरूप नरक में डूब कर महाक्लेश भोग रहे हैं। इस बात को छोड़ दें तो बहुत अच्छा होवे।

मूल—एगो अ गुरु एगो वि सावगो चेइआणि विवहाणि।
तच्छय जं जिणदव्वं, परुप्परं तं न विच्चन्ति॥

—प्रक० भा० २। षष्टी० सू० १५०॥

सं०अर्थ—सब श्रावकों का देव गुरु धर्म एक है, चैत्यवन्दन अर्थात् जिन प्रतिबिम्ब मूर्त्तिदेवल और जिन द्रव्य की रक्षा और मूर्त्ति की पूजा करना धर्म है॥१५०॥

(समीक्षक) अब देखो! जितना मूर्त्तिपूजा का झगड़ा चला है वह सब जैनियों के घर से! और पाखण्डों का मूल भी जैनमत है।

श्राद्धदिनकृत्य पृष्ठ १ में मूर्त्तिपूजा के प्रमाण—

नवकारेण विवोहो॥ १॥ अणुसरणं सावउ॥ २॥ वयाइं इमे॥ ३॥ जोगो॥ ४॥ चिय वन्दणगो॥ ५॥ पच्चरकाणं तु विहि पुच्छम्॥ ६॥

इत्यादि श्रावकों को पहले द्वार में नवकार का जप कर जाना॥ १॥ दूसरा नवकार जपे पीछे मैं श्रावक हूं स्मरण करना॥ २॥ तीसरे अणुव्रतादिक हमारे कितने हैं॥ ३॥ चौथे द्वारे चार वर्ग में अग्रगामी मोक्ष है उस का कारण ज्ञानादिक है सो योग, उस का सब अतीचार निर्मल करने से छः आवश्यक कारण सो भी उपचार से योग कहाता है सो योग कहेंगे॥ ४॥ पांचवें चैत्यवन्दन अर्थात् मूर्त्ति को नमस्कार द्रव्यभाव पूजा कहेंगे॥ ५॥ छठा प्रत्याख्यान द्वार नवकारसीप्रमुख विधिपूर्वक कहूंगा इत्यादि॥ ६॥

और इसी ग्रन्थ में आगे-आगे बहुत सी विधि लिखी हैं अर्थात् सन्ध्या के भोजन समय में जिनबिम्ब अर्थात् तीर्थङ्करों की मूर्त्ति पूजना और द्वार पूजना और द्वार पूजना में बड़े-बड़े बखेड़े हैं। मन्दिर बनाने के नियम, पुराने मन्दिरों को बनवाने और सुधारने से मुक्ति हो जाती है। मन्दिर में इस प्रकार जाकर बैठे। बड़े भाव प्रीति से पूजा करें। **"नमो जिनेन्द्रेभ्यः"** इत्यादि मन्त्रों से स्नानादि कराना। और

"जलचन्दनपुष्पधूपदीपनैः" इत्यादि से गन्धादि चढ़ावें। रत्नसार भाग के १२वें पृष्ठ में मूर्त्तिपूजा का फल यह लिखा है कि पुजारी को राजा वा प्रजा कोई भी न रोक सके।

(समीक्षक) ये बातें सब कपोलकल्पित हैं क्योंकि बहुत से जैन पूजारियों को राजादि रोकते हैं। रत्नसार० पृष्ठ १३ में लिखा है—मूर्त्तिपूजा से रोग, पीड़ा और महादोष छूट जाते हैं। एक किसी ने ५ कौड़ी का फूल चढ़ाया। उसने १८ देश का राज पाया। उसका नाम कुमारपाल हुआ था इत्यादि सब बातें झूठी और मूर्खों को लुभाने की हैं क्योंकि अनेक जैनी लोग पूजा करते-करते रोगी रहते हैं और एक बीघे का भी राज्य पाषाणादि मूर्त्तिपूजा से नहीं मिलता! और जो पांच कौड़ी के फूल चढ़ाने से राज मिले तो पांच-पांच कौड़ी के फूल चढ़ा के सब भूगोल का राज क्यों नहीं कर लेते? और राजदण्ड क्यों भोगते हैं? और जो मूर्त्तिपूजा करके भवसागर से तर जाते हो तो ज्ञान सम्यग्दर्शन और चारित्र क्यों करते हो? रत्नसार भाग पृष्ठ १३ में लिखा है कि गोतम के अंगूठे में अमृत और उस के स्मरण से मनोवांछित फल पाता है।

(समीक्षक) जो ऐसा हो तो सब जैनी लोग अमर हो जाने चाहियें सो नहीं होते। इस से यह इन की केवल मूर्खों के बहकाने की बात है, दूसरा इस में कुछ भी तत्त्व नहीं। इन की पूजा करने का श्लोक विवेकसार पृष्ठ ५२ में—

जलचन्दनधूपनैरथदीपाक्षतकैर्निवेद्यवस्त्रैः।
उपचारवरैर्जिनेन्द्रान् रुचिरैरद्य यजामहे॥

हम जल, चन्दन चावल, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, वस्त्र और अतिश्रेष्ठ उपचारों से जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थङ्करों की पूजा करें।

(समीक्षक) इसी से हम कहते हैं कि मूर्त्तिपूजा जैनियों से चली है। विवेकसार पृष्ठ २१—जिनमन्दिर में मोह नहीं आता और भवसागर के पार उतारने वाला है। विवेकसार पृष्ठ ५१-५२—मूर्त्तिपूजा से मुक्ति होती है और जिनमन्दिर में जाने से सद्गुण आते हैं। जो जल चन्दनादि से तीर्थङ्करों की पूजा करे वह नरक से छूट स्वर्ग को जाय। विवेकसार पृष्ठ ५५—जिनमन्दिर में ऋषभदेवादि की मूर्त्तियों के पूजने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है। विवेकसार पृष्ठ ६१—जिनमूर्त्तियों की पूजा करें तो सब जगत् के क्लेश छूट जायें।

(समीक्षक) अब देखो इन की अविद्यायुक्त असम्भव बातें! जो इस प्रकार से पापादि बुरे कर्म छूट जायें; मोह न आवे, भवसागर से पार उतर जायें; सद्गुण आ जायें; नरक को छोड़ स्वर्ग में जायें; धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त होवें और सब क्लेश छूट जायें तो सब जैनी लोग सुखी और सब पदार्थों की सिद्धि को प्राप्त क्यों नहीं होते?

इसी विवेकसार के ३ पृष्ठ में लिखा है कि जिन्होंने जिन मूर्त्ति का स्थापन किया है उन्होंने अपनी और अपने कुटुम्ब की जीविका खड़ी की है।

विवेकसार पृष्ठ २२५—शिव, विष्णु आदि की मूर्त्तियों की पूजा करनी बहुत बुरी है अर्थात् नरक का साधन है।

(समीक्षक) भला जब शिवादि की मूर्त्तियां नरक के साधन हैं तो जैनियों की मूर्त्तियां क्या वैसी नहीं? जो कहें कि हमारी मूर्त्तियां त्यागी, शान्त और शुभमुद्रायुक्त हैं इसलिये अच्छी और शिवादि की मूर्त्ति वैसी नहीं इसलिये बुरी हैं तो इन से कहना

चाहिए कि तुम्हारी मूर्त्तियां तो लाखों रुपयों के मन्दिर में रहती हैं और चन्दन केशरादि चढ़ता है पुनः त्यागी कैसी? और शिवादि की मूर्त्तियां तो विना छाया के भी रहती हैं वे त्यागी क्यों नहीं? और जो शान्त कहो तो जड़ पदार्थ सब निश्चल होने से शान्त हैं। सब मतों की मूर्त्तिपूजा व्यर्थ है।

(प्रश्न) हमारी मूर्त्तियां वस्त्र आभूषणादि धारण नहीं करतीं इसलिये अच्छी हैं।

(उत्तर) सब के सामने नंगी मूर्त्तियों का रहना और रखना पशुवत् लीला है।

(प्रश्न) जैसे स्त्री का चित्र या मूर्त्ति देखने से कामोत्पत्ति होती है वैसे साधु और योगियों की मूर्त्ति को देखने से शुभ गुण प्राप्त होते हैं।

(उत्तर) जो पाषाणमूर्त्तियों को देखने से शुभ परिणाम मानते हो तो उस के जड़त्वादि गुण भी तुम्हारे में आ जायेंगे। जब जड़बुद्धि होंगे तो सर्वथा नष्ट हो जाओगे। दूसरे जो उत्तम विद्वान् हैं उन के संग सेवा से छूटने से मूढ़ता भी अधिक होगी। और जो-जो दोष ग्यारहवें समुल्लास में लिखे हैं वे सब पाषाणादि मूर्त्तिपूजा करने वालों को लगते हैं। इसलिये जैसा जैनियों ने मूर्त्तिपूजा का झूठा कोलाहल चलाया है वैसे इन के मन्त्रों में भी बहुत सी असम्भव बातें लिखी हैं। यह इन का मन्त्र है। रत्नसार भाग १। पृष्ठ १ में—

नमो अरिहन्ताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उबज्झायाणं नमो लोए सब्बसाहूणं। एसो पंच नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो मंगलाचरणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलम्॥ १॥

इस मन्त्र का बड़ा माहात्म्य लिखा है और सब जैनियों का यह गुरुमन्त्र है। इस का ऐसा माहात्म्य धरा है कि तन्त्र, पुराण, भाटों की भी कथा को पराजय कर दिया है। श्राद्धदिनकृत्य पृष्ठ ३।

नमुक्कारं तउ पढ़े॥ ९॥ जउ कब्बं। मंताणमंतो परमो इमुत्ति। धेयाण-धेयं परमं इमुत्ति। तत्ताणतत्तं परमं पवित्तं। संसारसत्ताण दुहाइयाणं॥ १०॥ ताणं अन्नं तु नो अत्थि जीवाणं भवसायरे। बुड्डुं ताणं इमं मुत्तुं। नमुक्कारं सुपोययम्॥ ११॥ कब्बं अणेगजम्मं तरसंचिआणं। दुहाणं सारीरिअमाणुसाणं। कत्तोय भव्वाणभविज्जनासो। न जावपत्तो नवकारमन्तो॥ १२॥

जो यह मन्त्र है पवित्र और परम मन्त्र है। यह ध्यान के योग्य में परम ध्येय है। तत्त्वों में परम तत्त्व है। दुःखों से पीड़ित संसारी जीवों को नवकार मन्त्र ऐसा है कि जैसी समुद्र के पार उतारने की नौका होती है॥ १०॥ जो यह नवकार मन्त्र है वह नौका के समान है। जो इस को छोड़ देते हैं वे भवसागर में डूबते हैं और जो इस का ग्रहण करते हैं वे दुःखों से तर जाते हैं। जीवों को दुःखों से पृथक् रखने वाला, सब पापों का नाशक मुक्तिकारक इस मन्त्र के विना दूसरा कोई नहीं॥ ११॥ अनेक भवान्तर में उत्पन्न हुआ शरीर सम्बन्धी दुःख से भव्य जीवों को भवसागर से तारने वाला यही है। जब तक नवकार मन्त्र नहीं पाया तब तक भवसागर से जीव नहीं तर सकता।।१२।। यह अर्थ सूत्र में कहा है। और जो अग्निप्रमुख अष्ट महाभयों में सहायक एक नवकार मन्त्र को छोड़कर दूसरा कोई नहीं। जैसे महारत्न वैडूर्य नामक मणि ग्रहण करने में आवे अथवा शत्रु के भय में अमोघ शस्त्र ग्रहण करने में आवे वैसे श्रुत केवली का ग्रहण करे और सब द्वाद्वशांगी का नवकार मन्त्र रहस्य है।

इस मन्त्र का अर्थ यह है—(नमो अरिहन्ताणं) सब तीर्थङ्करों को नमस्कार (नमो सिद्धाणं) जैन मत के सब सिद्धों को नमस्कार। (नमो आयरियाणं) जैनमत के सब आचार्यों को नमस्कार। (नमो उवज्भायाणं) जैनमत के सब उपाध्यायों को नमस्कार। (नमो लोए सब्ब साहूणं) जितने जैन मत के साधु इस लोक में हैं उन सब को नमस्कार है। यद्यपि मन्त्र में जैन पद नहीं है तथापि जैनियों के अनेक ग्रन्थों में सिवाय जैनमत के अन्य किसी को नमस्कार भी न करना लिखा है, इसलिए यही अर्थ ठीक है। तत्त्वविवेक पृष्ठ १६९—जो मनुष्य लकड़ी, पत्थर को देवबुद्धि कर पूजता है वह अच्छे फलों को प्राप्त होता है।

(समीक्षक) जो ऐसा हो तो सब कोई दर्शन करके सुखरूप फलों को प्राप्त क्यों नहीं होते?

रत्नसारभाग १ पृष्ठ १०—पार्श्वनाथ की मूर्त्ति के दर्शन से पाप नष्ट हो जाते हैं। कल्पभाष्य पृष्ठ ५१ में लिखा है कि सवा लाख मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया इत्यादि। मूर्त्तिपूजा विषय में इन का बहुत सा लेख है। इसी से समझा जाता है कि मूर्त्तिपूजा का मूल कारण जैनमत है।

अब इन जैनियों के साधुओं की लीला देखिये—(विवेकसार पृष्ठ २२८) एक जैनमत का साधु कोशा वेश्या से भोग करके पश्चात् त्यागी होकर स्वर्ग लोक को गया। (विवेकसार पृष्ठ १०१) अर्णकमुनि चारित्र से चूककर कई वर्ष पर्य्यन्त दत्त सेठ के घर में विषयभोग करके पश्चात् देवलोक को गया। श्रीकृष्ण के पुत्र ढंढण मुनि को स्यालिया उठा ले गया पश्चात् देवता हुआ। (विवेकसार पृष्ठ १५६) जैनमत का साधु लिङ्गधारी अर्थात् वेशधारी मात्र हो तो भी उस का सत्कार श्रावक लोग करें। चाहैं साधु शुद्धचरित्र हों चाहैं अशुद्धचरित्र सब पूजनीय हैं। (विवेकसार पृष्ठ १६८) जैनमत का साधु चरित्रहीन हो तो भी अन्य मत के साधुओं से श्रेष्ठ है। (विवेकसार पृष्ठ १७१) श्रावक लोग जैनमत के साधुओं को चरित्ररहित भ्रष्टाचारी देखें तो भी उन की सेवा करनी चहिये। (विवेकसार पृष्ठ २१६) एक चोर ने पांच मूठी लोंच कर चारित्र ग्रहण किया। बड़ा कष्ट और पश्चात्ताप किया। छठे महीने में केवल ज्ञान पाके सिद्ध हो गया।

(समीक्षक) अब देखिये इन के साधु और गृहस्थों की लीला। इन के मत में बहुत कुकर्म करने वाला साधु भी सद्गति को गया। और—

विवकेसार पृष्ठ १०६ में लिखा है कि श्रीकृष्ण तीसरे नरक में गया। (विवेकसार पृष्ठ १४५) में लिखा है कि धन्वन्तरि वैद्य नरक में गया। विवेकसार पृष्ठ ४८ में जोगी, जंगम, काजी, मुल्ला कितने ही अज्ञान से तप कष्ट करके भी कुगति को पाते हैं। रत्नसार भा० १ पृष्ठ १७१ में लिखा है कि नव वासुदेव अर्थात् त्रिपृष्ठ वासुदेव, द्विपृष्ठ वासुदेव, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम वासुदेव, सिंहपुरुष वासुदेव, पुरुषपुण्डरीक वासुदेव, दत्तवासुदेव, लक्ष्मण वासुदेव और ९ श्रीकृष्ण वासुदेव, ये सब ग्यारहवें, बारहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, अठारहवें, बीसवें और बाईसवें तीर्थङ्करों के समय में नरक को गये और नव प्रतिवासुदेव अर्थात् अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव, तारक प्रतिवासुदेव, मोरक प्रतिवासुदेव, मधु प्रतिवासुदेव, निशुम्भ प्रतिवासुदेव, बली प्रतिवासुदेव, प्रह्लाद प्रतिवासुदेव, रावण प्रतिवासुदेव और जरासन्ध प्रतिवासुदेव ये भी सब नरक को गये। और कल्पभाष्य में लिखा है कि ऋषभदेव से लेके महावीर पर्य्यन्त २४ तीर्थङ्कर सब मोक्ष को प्राप्त हुए।

(समीक्षक) भला! कोई बुद्धिमान् पुरुष विचारे कि इन के साधु गृहस्थ और तीर्थङ्कर जिन में बहुत से वेश्यागामी, परस्त्रीगामी, चोर आदि सब जैनमतस्थ स्वर्ग और मुक्ति को गये और श्रीकृष्णादि महाधार्मिक महात्मा सब नरक को गये। यह कितनी बड़ी बुरी बात है? प्रत्युत विचार के देखें तो **अच्छे पुरुष को जैनियों का संग करना वा उनको देखना भी बुरा है।** क्योंकि जो इन का संग करे तो ऐसी ही झूठी-झूठी बातें उन के भी हृदय में स्थित हो जायेंगी, क्योंकि इन महाहठी, दुराग्रही मनुष्यों के संग से सिवाय बुराइयों के अन्य कुछ भी पल्ले न पड़ेगा। हां! जो जैनियों में उत्तमजन* हैं उन से सत्संगादि करने में कुछ भी दोष नहीं।

विवेकसार पृष्ठ ५५ में लिखा है कि गङ्गादि तीर्थ और काशी आदि क्षेत्रों के सेवने से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता और अपने गिरनार, पालीटाणा और आबू आदि तीर्थ, क्षेत्र मुक्तिपर्यन्त के देने वाले लिखे हैं।

(समीक्षक) यहां विचारना चाहिये कि जैसे शैव, वैष्णवादि के तीर्थ और क्षेत्र, जल, स्थल जड़स्वरूप हैं वैसे जैनियों के भी हैं। इन में से एक की निन्दा और दूसरे की स्तुति करना मूर्खता का काम है।

जैनों की मुक्ति का वर्णन

रत्नसार भा० १। पृष्ठ २३—महावीर तीर्थङ्कर गौतम जी से कहते हैं कि ऊर्ध्वलोक में एक सिद्धशिला स्थान है। स्वर्गपुरी के ऊपर पैंतालीस लाख योजन लम्बी और उतनी ही पोली है तथा ८ योजन मोटी है। जैसे मोती का श्वेत हार वा गोदुग्ध है उस से भी उजली है। सोने के समान प्रकाशमान और स्फटिक से भी निर्मल है। वह सिद्धशिला चौदहवें लोक की शिखा पर है और उस सिद्धशिला के ऊपर शिवपुर धाम, उस में भी मुक्त पुरुष अधर रहते हैं। वहां जन्म मरणादि कोई दोष नहीं और आनन्द करते रहते हैं। पुनः जन्म मरण में नहीं आते। सब कर्मों से छूट जाते हैं। यह जैनियों की मुक्ति है।

(समीक्षक) विचारना चाहिये कि जैसे अन्य मत में वैकुण्ठ, कैलाश, गोलोक, श्रीपुर आदि पुराणी, चौथे आसमान में ईसाई, सातवें आसमान में मुसलमानों के मत में मुक्ति के स्थान लिखे हैं, वैसे जैनियों की सिद्धशिला और शिवपुर भी है। क्योंकि जिस को जैनी लोग ऊंचा मानते हैं वही नीचे वालों की जो कि हम से भूगोल के नीचे रहते हैं उन की अपेक्षा से नीचा है। ऊंचा, नीचा व्यवस्थित पदार्थ नहीं है। जो आर्य्यावर्त्तवासी जैनी लोग ऊंचा मानते हैं उसी को अमेरिका वाले नीचा मानते हैं और आर्यावर्त्तवासी जिस को नीचा मानते हैं उसी को अमेरिका वाले ऊँचा मानते हैं । चाहे वह शिला पैंतालीस लाख से दूनी नव्वे लाख कोश की होती तो भी वे मुक्त बन्धन में हैं क्योंकि उस शिला वा शिवपुर के बाहर निकलने से उन की मुक्ति छूट जाती होगी। और सदा उस में रहने की प्रीति और उस से बाहर जाने में अप्रीति भी रहती होगी। जहां अटकाव प्रीति और अप्रीति है उस को मुक्ति क्योंकर कह सकते हैं? मुक्ति तो जैसी नवमे समुल्लास में वर्णन कर आये हैं वैसी माननी ठीक है। और जैनियों की मुक्ति भी एक प्रकार का बन्धन है। ये जैनी भी मुक्ति विषय में भ्रम में फंसे हैं। यह सच है कि विना वेदों के यथार्थ अर्थबोध के मुक्ति के स्वरूप को कभी नहीं जान सकते।

---

* **जो उत्तमजन होगा वह इस असार जैनमत में कभी न रहेगा।**

अब और थोड़ी सी असम्भव बातें इन की सुनो—(विवेकसार पृष्ठ ७८) एक करोड़ साठ लाख कलशों से महावीर को जन्म समय में स्नान किया। (विवेक० पृष्ठ १३६) दशार्ण राजा महावीर के दर्शन को गया। वहां कुछ अभिमान किया। उस के निवारण के लिए १६,७७,७२,१६००० इतने इन्द्र के स्वरूप और १३,३७,०५,७२,८०,००,००,००० इतनी इन्द्राणी वहां आईं थीं। देख कर राजा आश्चर्य में हो गया।

(समीक्षक) अब विचारना चाहिये कि इन्द्र और इन्द्राणियों के खड़े रहने के लिये ऐसे-ऐसे कितने ही भूगोल चाहिये। श्राद्धदिनकृत्य आत्मनिन्दा भावना पृष्ठ ३१ में लिखा है कि बावड़ी, कुआ और तालाब न बनवाना चाहिये।

(समीक्षक) भला जो सब मनुष्य जैनमत में हो जायें और कुआ, तालाब, बावड़ी आदि कोई न बनवावें तो सब लोग जल कहां से पीयें?

(प्रश्न) तालाब आदि बनवाने से जीव पड़ते हैं। उस से बनवाने वाले को पाप लगता है। इसलिये हम जैनी लोग इस काम को नहीं करते।

(उत्तर) तुम्हारी बुद्धि नष्ट क्यों हो गई? क्योंकि जैसे क्षुद्र-क्षुद्र जीवों के मरने से पाप गिनते हो बड़े-बड़े गाय आदि पशु और मनुष्यादि प्राणियों के जल पीने आदि से महापुण्य होगा उस को क्यों नहीं गिनते?

(तत्त्वविवेक पृष्ठ १९६) इस नगरी में एक नन्दमणिकार सेठ ने बावड़ी बनवाई। उस से धर्म भ्रष्ट होकर सोलह महारोग हुए। मर के उसी बावड़ी में मेडुका हुआ। महावीर के दर्शन से उस को जातिस्मरण हो गया। महावीर कहते हैं कि मेरा आना सुन कर वह पूर्व जन्म के धर्माचार्य्य जान वन्दना को आने लगा। मार्ग में श्रेणिक के घोड़े की टाप से मर कर शुभ ध्यान के योग से दर्दरांक नामक महर्द्धिक देवता हुआ। अवधिज्ञान से मुझ को यहां आया जान वन्दनापूर्वक ऋद्धि दिखाके गया।

(समीक्षक) इत्यादि विद्याविरुद्ध असम्भव मिथ्या बात के कहने वाले महावीर को सर्वोत्तम मानना महाभ्रान्ति की बात है।

श्राद्धदिनकृत्य० पृष्ठ ३६ में लिखा है कि मृतकवस्त्र साधु ले लेवें। **(समीक्षक)** देखिये! इन के साधु भी महाब्राह्मण के समान हो गये। वस्त्र तो साधु लेवें परन्तु मृतक के आभूषण कौन लेवे? बहुमूल्य होने से घर में रख लेते होंगे तो आप कौन हुए?

(रत्नसार पृष्ठ १०५) भूंजने, कूटने, पीसने, अन्न पकाने आदि में पाप होता है।

(समीक्षक) अब देखिये इन की विद्याहीनता! भला ये कर्म न किये जायें तो मनुष्यादि प्राणी कैसे जी सकें? और जैनी लोग भी पीड़ित होकर मर जायें।

(रत्नसार पृष्ठ १०४) बगीचा लगाने से एक लक्ष पाप माली को लगता है।

(समीक्षक) जो माली को लक्ष पाप लगता है तो अनेक जीव पत्र, फल, फूल और छाया से आनन्दित होते हैं तो करोड़ों गुणा पुण्य भी होता ही है इस पर कुछ ध्यान भी न दिया यह कितना अन्धेर है?

(तत्त्वविवेक पृष्ठ २०२) एक दिन लब्धि साधु भूल से वेश्या के घर में चला गया और धर्म से भिक्षा मांगी। वेश्या बोली कि यहां धर्म का काम नहीं किन्तु अर्थ का काम है तो उस लब्धि साधु ने साढ़े बारह लाख अशर्फी वर्षा उस के घर में कर दी। **(समीक्षक)** इस बात को सत्य विना नष्टबुद्धि पुरुष के कौन मानेगा?

रत्नसार भाग १, पृष्ठ ६७ में लिखा है कि एक पाषाण की मूर्त्ति घोड़े पर चढ़ी हुई उस का जहां स्मरण करे वहां उपस्थित होकर रक्षा करती है।

(समीक्षक) कहो जैनी जी! आजकल तुम्हारे यहां चोरी, डाका आदि और शत्रु से भय होता ही है तो तुम उस का स्मरण करके अपनी रक्षा क्यों नहीं करा लेते हो? क्यों जहां तहां पुलिस आदि राजस्थानों में मारे-मारे फिरते हो? अब इन के साधुओं के लक्षण—

सरजोहरणा भैक्ष्यभुजो लुञ्चितमूर्द्धजाः।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैनसाधवः॥ १॥
लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ता पाणिपात्रा दिगम्बराः।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः॥ २॥
भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥ ३॥

जैन के साधुओं के लक्षणार्थ जिनदत्तसूरी ने ये श्लोकों से कहे हैं—

सरजोहरण—चमरी रखना और भिक्षा मांग के खाना, शिर के बाल लुञ्चित कर देना, श्वेत वस्त्र धारण करना, क्षमायुक्त रहना, किसी का संग न करना, ऐसे लक्षणयुक्त जैनियों के श्वेताम्बर जिन को जती कहते हैं॥१॥

दूसरे दिगम्बर अर्थात् वस्त्र धारण न करना, शिर के बाल उखाड़ डालना, पिच्छिका एक ऊन के सूतों का झाडू लगाने का साधन बगल में रखना, जो कोई भिक्षा दे तो हाथ में लेकर खा लेना, ये दिगम्बर दूसरे प्रकार के साधु होते हैं और भिक्षा देने वाला गृहस्थ जब भोजन कर चुके उस के पश्चात् भोजन करें वे जिनर्षि अर्थात् तीसरे प्रकार के साधु होते हैं॥२॥

दिगम्बरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग स्त्री का संसर्ग नहीं करते और श्वेताम्बर करते हैं, इत्यादि बातों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यह इन के साधुओं का भेद है॥३॥ इस से जैन लोगों का केशलुञ्चन सर्वत्र प्रसिद्ध है और पांच मुष्टि लुञ्चन करना इत्यादि भी लिखा है।

विवेकसार भा० पृष्ठ २१६ में लिखा है कि पांच मुष्टि लुञ्चन कर चारित्र ग्रहण किया अर्थात् पांच मूठी सिर के बाल उखाड़ के साधु हुआ। (कल्पसूत्र भाष्य पृष्ठ १०८) केशलुञ्चन करे, गौ के बालों के तुल्य रक्खे।

(समीक्षक) अब कहिये जैन लोगो! तुम्हारा दया धर्म कहां रहा? क्या यह हिंसा अर्थात् चाहें अपने हाथ से लुञ्चन करे चाहें उस का गुरु करे वा अन्य कोई परन्तु कितना बड़ा कष्ट उस जीव को होता होगा? जीव को कष्ट देना ही हिंसा कहाती है।

(विवेकसार पृष्ठ ७-८) संवत् १६३३ के साल में श्वेताम्बरों में से ढूंढिया और ढूंढ़ियों में से तेरहपन्थी आदि ढोंगी निकले हैं। ढूंढ़िये लोग पाषाणादि मूर्त्ति को नहीं मानते और वे भोजन स्नान को छोड़ सर्वदा मुख पर पट्टी बांधे रहते हैं और जती आदि भी जब पुस्तक बांचते हैं तभी मुख पर पट्टी बांधते हैं अन्य समय नहीं।

(प्रश्न) मुख पर पट्टी अवश्य बांधनी चाहिये क्योंकि 'वायुकाय' अर्थात् जो वायु में सूक्ष्म शरीर वाले जीव रहते हैं वे मुख के भाफ की उष्णता से मरते हैं और उस का पाप मुख पर पट्टी न बांधने वाले पर होता है इसीलिये हम लोग मुख पर पट्टी बांधना अच्छा समझते हैं।

(उत्तर) यह बात विद्या और प्रत्यक्षादि प्रमाणादि की रीति से अयुक्त है। क्योंकि जीव अजर, अमर हैं फिर वे मुख की भाफ से कभी नहीं मर सकते। इन को तुम भी अजर, अमर मानते हो।

(प्रश्न) जीव तो नहीं मरता परन्तु जो मुख के उष्ण वायु से उन को पीड़ा पहुँचती है। उस पीड़ा पहुँचाने वाले को पाप होता है । इसीलिये मुख पर पट्टी बांधना अच्छा है।

(उत्तर) यह भी तुम्हारी बात सर्वथा असम्भव है, **क्योंकि पीड़ा दिये विना किसी जीव का किञ्चित् भी निर्वाह नहीं हो सकता।** जब मुख के वायु से तुम्हारे मत में जीवों को पीड़ा पहुँचती है तो चलने, फिरने, बैठने, हाथ उठाने और नेत्रादि के चलाने में भी पीड़ा अवश्य पहुँचती होगी। इसलिये तुम भी जीवों को पीड़ा पहुँचाने से पृथक् नहीं रह सकते।

(प्रश्न) हां! जब तक बन सके वहां तक जीवों की रक्षा करनी चाहिये और जहां हम नहीं बचा सकते वहां अशक्त हैं, क्योंकि सब वायु आदि पदार्थों में जीव भरे हुए हैं। जो हम मुख पर कपड़ा न बांधें तो बहुत जीव मरें; कपड़ा बांधने से न्यून मरते हैं।

(उत्तर) यह भी तुम्हारा कथन युक्तिशून्य है क्योंकि कपड़ा बांधने से जीवों को अधिक दुःख पहुंचता है। जब कोई मुख पर कपड़ा बांधे तो उस का मुख का वायु रुक के नीचे वा पार्श्व और मौन समय में नासिका द्वारा इकट्ठा होकर वेग से निकलता है, उस से उष्णता अधिक होकर जीवों को विशेष पीड़ा तुम्हारे मतानुसार पहुँचती होगी। देखो! जैसे घर वा कोठरी के सब दरवाजे बंध किये वा पड़दे डाले जायें तो उस में उष्णता विशेष होती है। खुला रखने से उतनी नहीं होती। वैसे मुख पर कपड़ा बांधने से उष्णता अधिक होती है और खुला रखने से न्यून। वैसे तुम अपने मतानुसार जीवों को अधिक दुःखदायक हो। और जब मुख बन्ध किया जाता है तब नासिका के छिद्रों से वायु रुक इकट्ठा होकर वेग से निकलता हुआ जीवों को अधिक धक्का और पीड़ा करता होगा।

देखो! जैसे कोई मनुष्य अग्नि को मुख से फूंकता और कोई नली से तो मुख का वायु फैलने से कम बल और नली का वायु इकट्ठा होने से अधिक बल से अग्नि में लगता है। वैसे ही मुख पर पट्टी बांध कर वायु को रोकने से नासिका द्वारा अति वेग से निकल कर जीवों को अधिक दुःख देता है। इस से मुख पर पट्टी बांधने वालों से नहीं बांधने वाले धर्मात्मा हैं। और मुख पर पट्टी बांधने से अक्षरों का यथायोग्य स्थान, प्रयत्न के साथ उच्चारण भी नहीं होता। निरनुनासिक अक्षरों को सानुनासिक बोलने से तुम को दोष लगता है।

तथा मुख पर पट्टी बांधने से दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ता है क्योंकि शरीर के भीतर दुर्गन्ध भरा है। शरीर से जितना वायु निकलता है वह दुर्गन्धयुक्त प्रत्यक्ष है, जो वह रोका जाये तो दुर्गन्ध भी अधिक बढ़ जाय जैसा कि बंध 'जाजरूर' अधिक दुर्गन्धयुक्त और खुला हुआ न्यून दुर्गन्धयुक्त होता है, वैसे ही मुखपट्टी बांधने, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन और स्नान न करने तथा वस्त्र न धोने से तुम्हारे शरीरों से अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होकर संसार में बहुत रोग करके जीवों को जितनी पीड़ा पहुंचाते हैं उतना पाप तुम को अधिक होता है। जैसे मेले आदि में अधिक दुर्गन्ध होने से 'विसूचिका' अर्थात् हैजा आदि बहुत प्रकार के रोग उत्पन्न होकर

जीवों को दुःखदायक होते हैं और न्यून दुर्गन्ध होने से रोग भी न्यून होकर जीवों को बहुत दुःख नहीं पहुंचता। इस से तुम अधिक दुर्गन्ध बढ़ाने में अधिक अपराधी और जो मुख पट्टी नहीं बांधते; दन्तधावन, मुखप्रक्षालन, स्नान करके स्थान, वस्त्रों को शुद्ध रखते हैं वे तुम से बहुत अच्छे हैं।

जैसे अन्त्यजों की दुर्गन्ध के सहवास से पृथक् रहने वाले बहुत अच्छे हैं। जैसे अन्त्यजों की दुर्गन्ध के सहवास से निर्मल बुद्धि नहीं होती, वैसे तुम और तुम्हारे संगियों की भी बुद्धि नहीं बढ़ती। जैसे रोग की अधिकता और बुद्धि के स्वल्प होने से धर्मानुष्ठान की बाधा होती है वैसे ही दुर्गन्धयुक्त तुम्हारा और तुम्हारे संगियों का भी वर्त्तमान होता होगा।

(प्रश्न) जैसे बन्ध मकान में जलाये हुए अग्नि की ज्वाला बाहर निकल के बाहर के जीवों को दुःख नहीं पहुंचा सकती। वैसे हम मुखपट्टी बांध के वायु को रोक कर बाहर के जीवों को न्यून दुःख पहुचाने वाले हैं। मुखपट्टी बांधने से बाहर के वायु के जीवों को पीड़ा नहीं पहुंचती, और जैसे सामने अग्नि जलाता है उसको आड़ा हाथ देने से कम लगती है और वायु के जीव शरीर वाले होने से उनको पीड़ा अवश्य पहुंचती है।

(उत्तर) यह तुम्हारी बात लड़कपन की है। प्रथम तो देखो जहां छिद्र और भीतर के वायु का योग बाहर के वायु के साथ न हो तो वहाँ अग्नि जल ही नहीं सकता। जो इस को प्रत्यक्ष देखना चाहो तो किसी फानूस में दीप जलाकर सब छिद्र बन्ध करके देखो तो दीप उसी समय बुझ जायेगा। जैसे पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यादि प्राणी बाहर के वायु के योग के विना नहीं जी सकते, वैसे अग्नि भी नहीं जल सकता। जब एक ओर से अग्नि का वेग रोका जाय तो दूसरी ओर अधिक वेग से निकलेगा। और हाथ की आड़ करने से मुख पर आंच न्यून लगती है परन्तु वह आंच हाथ पर अधिक लग रही है इसलिये तुम्हारी बात ठीक नहीं।

(प्रश्न) इस को सब कोई जानता है कि जब किसी बड़े मनुष्य से छोटा मनुष्य कान में वा निकट होकर बात कहता है तब मुख पर पल्ला वा हाथ लगाता है। इसलिये कि मुख से थूक उड़ कर वा दुर्गन्ध उस को न लगे और जब पुस्तक बांचता है तब अवश्य थूक उड़ कर उस पर गिरने से उच्छिष्ट होकर बिगड़ जाता है इसलिये मुख पर पट्टी का बांधना अच्छा है।

(उत्तर) इस से यह सिद्ध हुआ कि जीवरक्षार्थ मुखपट्टी बांधना व्यर्थ है। और जब कोई बड़े मनुष्य से बात करता है तब मुख पर हाथ वा पल्ला इसलिये रखता है कि उस गुप्त बात को दूसरा कोई न सुन लेवे। क्योंकि जब कोई प्रसिद्ध बात करता है तब कोई भी मुख पर हाथ वा पल्ला नहीं धरता। इस से क्या विदित होता है कि गुप्त बात के लिये यह बात है। दन्तधावनादि न करने से तुम्हारे मुखादि अवयवों से अत्यन्त दुर्गन्ध निकलता है और जब तुम किसी के पास वा कोई तुम्हारे पास बैठता होगा तो विना दुर्गन्ध के अन्य क्या आता होगा? इत्यादि मुख के आड़ा हाथ वा पल्ला देने के प्रयोजन अन्य बहुत हैं। जैसे बहुत मनुष्यों के सामने गुप्त बात करने में जो हाथ वा पल्ला न लगाया जाय तो दूसरों की ओर वायु के फैलने से बात भी फैल जाय। जब वे दोनों एकान्त में बात करते हैं तब मुख पर हाथ वा पल्ला इसलिये नहीं लगाते कि यहां तीसरा कोई सुनने वाला नहीं। जो बड़ों ही के ऊपर थूक न गिरे इस से क्या छोटों के ऊपर थूक गिराना चाहिये? और

उस थूक से बच भी नहीं सकता क्योंकि हम दूरस्थ बात करें और वायु हमारी ओर से दूसरे की ओर जाता हो तो सूक्ष्म होकर उस के शरीर पर वायु के साथ त्रसरेणु अवश्य गिरेंगे। उस का दोष गिनना अविद्या की बात है। क्योंकि जो मुख की उष्णता से जीव मरते वा उन को पीड़ा पहुंचती हो तो वैशाख वा ज्येष्ठ महीने में सूर्य्य की महा उष्णता से वायुकाय के जीवों में से मरे विना एक भी न बच सके। सो उस उष्णता से भी वे जीव नहीं मर सकते। इसलिये यह तुम्हारा सिद्धान्त झूठा है, क्योंकि जो तुम्हारे तीर्थङ्कर भी पूर्ण विद्वान् होते तो ऐसी व्यर्थ बातें क्यों करते? देखो! पीड़ा उसी जीव को पहुंचती है जिस की वृत्ति सब अवयवों के साथ विद्यमान हो। इस में प्रमाण—

पञ्चावयवयोगात्सुखसंवित्तिः॥ —यह सांख्यशास्त्र का सूत्र है।

जब पांचों इन्द्रियों का पांच विषयों के साथ सम्बन्ध होता है तभी सुख वा दुःख की प्राप्ति जीव को होती है। जैसे बधिर को गाली प्रदान, अन्धे को रूप वा आगे से सर्प्प व्याघ्रादि भयदायक जीवों का चला जाना, शून्य बहिरी वालों को स्पर्श, पिन्नस रोग वाले को गन्ध और शून्य जिह्वा वाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।

देखो! जब मनुष्य का जीव सुषप्ति दशा में रहता है तब उस की सुख वा दुःख की प्राप्ति कुछ भी नहीं होती, क्योंकि वह शरीर के भीतर तो है परन्तु उस का बाहर के अवयवों के साथ उस समय सम्बन्ध न रहने से सुख दुःख की प्राप्ति नहीं कर सकता। और जैसे वैद्य वा आजकल के डॉक्टर लोग नशे की वस्तु खिला वा सुंघा के रोगी पुरुष के शरीर के अवयवों को काटते वा चीरते हैं उस को उस समय कुछ भी दुःख विदित नहीं होता। **वैसे वायुकाय अथवा अन्य स्थावर शरीर वाले जीवों को सुख वा दुःख प्राप्त कभी नहीं हो सकता। जैसे मूर्छित प्राणी सुख दुःख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता वैसे वे वायुकायादि के जीव भी अत्यन्त मूर्छित होने से सुख दुःख को प्राप्त नहीं हो सकते।** फिर इन को पीड़ा से बचाने की बात सिद्ध कैसे हो सकती है? जब उन को सुख, दुःख की प्राप्ति प्रत्यक्ष नहीं होती तो अनुमानादि यहां कैसे युक्त हो सकते हैं।

(प्रश्न) जब वे जीव हैं तो उन को सुख, दुःख क्यों नहीं होता होगा?

(उत्तर) सुनो भोले भाइयो! जब तुम सुषुप्ति में होते हो तब तुम को सुख, दुःख प्राप्त क्यों नहीं होते? सुख, दुःख की प्राप्ति का हेतु प्रसिद्ध सम्बन्ध है। अभी हम इस का उत्तर दे आये हैं कि नशा सुंघा के डॉक्टर लोग अंगों को चीरते, फाड़ते और काटते हैं। जैसे उन को दुःख विदित नहीं होता इसी प्रकार अतिमूर्छित जीवों को सुख, दुःख क्योंकर प्राप्त होवें? क्योंकि वहां प्राप्ति होने का साधन कोई भी नहीं।

(प्रश्न) देखो! निलोति अर्थात् जितने हरे शाक, पात और कन्दमूल हैं उन को हम लोग नहीं खाते क्योंकि निलोति में बहुत और कन्दमूल में अनन्त जीव हैं। जो हम इन को खावें तो उन जीवों को मारने और पीड़ा पहुंचाने से हम लोग पापी हो जावें।

(उत्तर) यह तुम्हारी बड़ी अविद्या की बात है **क्योंकि हरित शाक के खाने में जीव का मरना उन को पीड़ा पहुंचनी क्योंकर मानते हो?** भला जब तुम को पीड़ा प्राप्त होती प्रत्यक्ष नहीं दीखती और जो दीखती है तो हम को भी दिखलाओ। तुम कभी न प्रत्यक्ष देख वा हम को दिखा सकोगे। जब प्रत्यक्ष नहीं

तो अनुमान, उपमान और शब्दप्रमाण भी कभी नहीं घट सकता। फिर जो हम ऊपर उत्तर दे आये हैं वह इस बात का भी उत्तर है—**क्योंकि जो अत्यन्त अन्धकार महासुषुप्ति और महानशा में जीव हैं इन को सुख दुःख की प्राप्ति मानना तुम्हारे तीर्थङ्करों की भी भूल विदित होती है;** जिन्होंने तुम को ऐसी युक्ति और विद्याविरुद्ध उपदेश किया है। भला! जब घर का अन्त है तो उस में रहने वाले अनन्त क्योंकर हो सकते हैं? जब कन्द का अन्त हम देखते हैं तो उस में रहने वाले जीवों का अन्त क्यों नहीं? इस से यह तुम्हारी बात बड़ी भूल की है।

(प्रश्न) देखो! तुम लोग विना उष्ण किये कच्चा पानी पीते हो वह बड़ा पाप करते हो। जैसे हम उष्ण पानी पीते हैं वैसे तुम लोग भी पिया करो।

(उत्तर) यह भी तुम्हारी बात भ्रमजाल की है क्योंकि जब तुम पानी को उष्ण करते हो तब पानी के जीव सब मरते होंगे । और उन का शरीर भी जल में रंधकर वह पानी सोंफ के अर्क के तुल्य होने से जानो तुम उन के शरीरों का **'तेजाब'** पीते हो, इस में तुम बड़े पापी हो। और जो ठण्डा जल पीते हैं वे नहीं क्योंकि जब ठण्डा पानी पियेंगे तब उदर में जाने से किञ्चित् उष्णता पाकर श्वास के साथ वे जीव बाहर निकल जायेंगे। जलकाय जीवों को सुख, दुःख प्राप्त पूर्वोक्त रीति से नहीं हो सकता पुनः इस में पाप किसी को नहीं होगा।

(प्रश्न) जैसे जाठराग्नि से वैसे उष्णता पाके जल से बाहर जीव क्यों न निकल जायेंगे?

(उत्तर) हां! निकल तो जाते परन्तु जब तुम मुख के वायु की उष्णता से जीव का मरना मानते हो तो जल उष्ण करने से तुम्हारे मतानुसार जीव मर जावेंगे वा अधिक पीड़ा पाकर निकलेंगे और उन के शरीर उस जल में रंध जायेंगे इस से तुम अधिक पापी होगे वा नहीं?

(प्रश्न) हम अपने हाथ से उष्ण जल नहीं करते और न किसी गृहस्थ को उष्ण जल करने की आज्ञा देते हैं, इसलिए हम को पाप नहीं।

(उत्तर) जो तुम उष्ण जल न लेते, न पीते तो गृहस्थ उष्ण क्यों करते? इसलिये उस पाप के भागी तुम ही हो; प्रत्युत अधिक पापी हो क्योंकि जो तुम किसी एक गृहस्थ को उष्ण करने को कहते तो एक ही ठिकाने उष्ण होता है। जब वे गृहस्थ इस भ्रम में रहते हैं कि न जाने साधु जी किस के घर को आवेंगे इसलिये प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर में उष्ण जल कर रखते हैं। इस के पाप के भागी मुख्य तुम ही हो।

दूसरा अधिक काष्ठ और अग्नि के जलने जलाने से भी ऊपर लिखे प्रमाणे रसोई, खेती और व्यापारादि में अधिक पापी और नरकगामी होते हो। फिर जब तुम उष्ण जल कराने के मुख्य निमित्त और तुम उष्ण जल के पीने और ठण्डे के न पीने के उपदेश करने से तुम ही मुख्य पाप के भागी हो। और जो तुम्हारा उपदेश मान कर ऐसी बातें करते हैं वे भी पापी हैं।

अब देखो! कि तुम बड़ी अविद्या में होते हो वा नहीं कि छोटे-छोटे जीवों पर दया करनी और अन्य मत वालों की निन्दा, अनुपकार करना क्या थोड़ा पाप है? जो तुम्हारे तीर्थङ्करों का मत सच्चा होता तो सृष्टि में इतनी वर्षा, नदियों का चलना और इतना जल क्यों उत्पन्न ईश्वर ने किया? और सूर्य्य को भी उत्पन्न न करता क्योंकि इन में क्रोड़ान् क्रोड़ जीव तुम्हारे मतानुसार मरते ही होंगे। जब

वे विद्यमान थे और तुम जिन को ईश्वर मानते हो उन्होंने दयाकर सूर्य्य का ताप और मेघ को बन्ध क्यों नहीं किया?

और पूर्वोक्त प्रकार से **विना विद्यमान प्राणियों के दुःख, सुख की प्राप्ति कन्दमूलादि पदार्थों में रहने वाले जीवों को नहीं होती।** सर्वथा सब जीवों पर दया करना भी दुःख का कारण होता है क्योंकि जो तुम्हारे मतानुसार सब मनुष्य हो जावें। चोर डाकुओं को कोई भी दण्ड न देवे तो कितना बड़ा पाप खड़ा हो जाये? इसलिए दुष्टों को यथावत् दण्ड देने और श्रेष्ठों के पालन करने में दया और इस से विपरीत करने में दया क्षमारूप धर्म का नाश है। कितने जैनी लोग दुकान करते, उन व्यवहारों में झूठ बोलते, पराया धन मारते और दीनों को छलने आदि कुकर्म करते हैं उन के निवारण में विशेष उपदेश क्यों नहीं करते? और मुखपट्टी बांधने आदि ढोंग में क्यों रहते हो?

जब तुम चेला, चेली करते हो तब केशलुञ्चन और बहुत दिवस भूखे रहने में पराये वा अपने आत्मा को पीड़ा दे और पीड़ा को प्राप्त होके दूसरों को दुःख देते । और आत्महत्या अर्थात् आत्मा को दुःख देने वाले होकर हिंसक क्यों बनते हो? जब हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट पर चढ़ने और मनुष्यों को मजूरी कराने में पाप जैनी लोग क्यों नहीं गिनते? जब तुम्हारे चेले ऊटपटांग बातों को सत्य नहीं कर सकते तो तुम्हारे तीर्थङ्कर भी सत्य नहीं कर सकते। जब तुम कथा बांचते हो तो मार्ग में श्रोताओं के और तुम्हारे मतानुसार जीव मरते ही होंगे इसलिये तुम इस पाप के मुख्य कारण क्यों होते हो? इस थोड़े कथन से बहुत समझ लेना कि **उन जल, स्थल, वायु के स्थावर शरीर वाले अत्यन्त मूर्छित जीवों को दुःख वा सुख कभी नहीं पहुंच सकता।**

अब जैनियों की और भी थोड़ी सी असम्भव कथा लिखते हैं। सुनना चाहिये और यह भी ध्यान में रखना कि अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का धनुष होता है। और काल की संख्या जैसी पूर्व लिख आये हैं वैसी ही समझना। रत्नसार भाग १। पृष्ठ १६६-१६७ तक में लिखा है—

(१) ऋषभदेव का शरीर ५०० पांच सौ धनुष् लम्बा और ८४००००० (चौरासी लाख) पूर्व का आयु। (२) अजितनाथ का ४५० धनुष् परिमाण का शरीर और ७२००००० (बहत्तर लाख) पूर्व वर्ष का आयु। (३) सम्भवनाथ का शरीर ४०० चार सौ धनुष् परिमाण शरीर और ६००००००० (साठ लाख) पूर्व वर्ष का आयु। (४) अभिनन्दन का ३५० साढ़े तीन सौ धनुष् का शरीर और ५००००००० (पचास लाख) पूर्व वर्ष का आयु। (५) सुमतिनाथ का ३०० धनुष् परिमाण का शरीर और ४००००००० (चालीस लाख) पूर्व वर्ष का आयु। (६) पद्मप्रभ का १४० धनुष् का शरीर और परिमाण ३००००००० (तीस लाख) पूर्व वर्ष का आयु। (७) पार्श्वनाथ का २०० धनुष् का शरीर और २००००००० (बीस लाख) पूर्व वर्ष का आयु। (८) चन्द्रप्रभ का १५० धनुष् परिमाण का शरीर और १००००००० (दस लाख) पूर्व वर्ष का आयु। (९) सुविधिनाथ का १०० सौ धनुष् का शरीर और २०००००० (दो लाख) पूर्व वर्ष का आयु। (१०) शीतलनाथ का ९० नब्बे धनुष् का शरीर और १०००००० (एक लाख) पूर्व वर्ष का आयु। (११) श्रेयांसनाथ का ८० धनुष् का शरीर और ८४००००० (चौरासी लाख) वर्ष का आयु। (१२) वासुपूज्य स्वामी का ७० धनुष् का शरीर और ७२००००० (बहत्तर लाख) वर्ष का आयु।

(१३) विमलनाथ का ६० धनुष् का शरीर और ६०००००० (साठ लाख) वर्षों का आयु। (१४) अनन्तनाथ का ५० धनुष् का शरीर और ३०००००० (तीस लाख) वर्षों का आयु। (१५) धर्मनाथ का ४५ धनुष् का शरीर और १०००००० (दस लाख) वर्षों का आयु। (१६) शान्तिनाथ का ४० धनुषों का शरीर और १००००० (एक लाख) वर्ष का आयु। (१७) कुन्थुनाथ का ३५ धनुष् का शरीर और ९५००० (पचानवें सहस्र) वर्षों का आयु। (१८) अमरनाथ का ३० धनुषों का शरीर और ८४००० (चौरासी सहस्र) वर्षों का आयु। (१९) मल्लीनाथ का २५ धनुषों का शरीर और ५५००० (पचपन सहस्र) वर्षों का आयु। (२०) मुनि सुव्रत का २० धनुषों का शरीर और ३०००० (तीस सहस्र) वर्षों का आयु। (२१) नमिनाथ का १४ धनुषों का शरीर और १०००० (दश सहस्र) वर्षों का आयु। (२२) नेमिनाथ का १० धनुषों का शरीर और १०००० (दश सहस्र) वर्ष का आयु। (२३) पार्श्वनाथ ९ हाथ का शरीर और १०० (सौ) वर्ष का आयु। (२४) महावीर स्वामी का ७ हाथ का शरीर और ७२ वर्षों की आयु।

ये चौबीस तीर्थङ्कर जैनियों के मत चलाने वाले आचार्य और गुरु हैं। इन्हीं को जैनी लोग परमेश्वर मानते हैं और ये सब मोक्ष को गये हैं। इसमें बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि इतने बड़े शरीर और इतना आयु मनुष्य देह का होना कभी सम्भव है? इस भूगोल में बहुत ही थोड़े मनुष्य वस सकते हैं। इन्हीं जैनियों के गपोड़े लेकर जो पुराणियों ने एक लाख, दश सहस्र और एक सहस्र वर्ष का आयु लिखा सो भी सम्भव नहीं हो सकता तो जैनियों का कथन सम्भव कैसे हो सकता है?

अब और भी सुनो—कल्पभाष्य पृष्ठ ४—नागकेत ने ग्राम की बराबर एक शिला अंगुली पर धर ली! कल्पभाष्य पृष्ठ ३५—महावीर ने अंगूठे से पृथिवी को दबाई उस से शेषनाग कंप गया! कल्पभाष्य पृष्ठ ४६—महावीर को सर्प ने काटा, रुधिर के बदले दूध निकला। और वह सर्प ८वें स्वर्ग को गया!। कल्पभाष्य पृष्ठ ४७—महावीर के पग पर खीर पकाई और पग न जले!। कल्पभाष्य पृष्ठ १६—छोटे से पात्र में ऊंट बुलाया! रत्नसार भाग १। प्रथम पृष्ठ १४—शरीर के मैल को न उतारे और न खुजलावें। विवेकसार पृष्ठ २१५—जैनियों के एक दमसार साधु ने क्रोधित होकर उद्वेगजनक सूत्र पढ़ कर एक शहर में आग लगा दी और महावीर तीर्थङ्कर का अति प्रिय था। विवेक पृष्ठ २२७—राजा की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये। विवेक पृष्ठ २२७—एक कोशा वेश्या ने थाली में सरसों की ढेरी लगा उस के ऊपर फूलों से ढकी हुई सुई खड़ी कर उस पर अच्छे प्रकार नाच किया परन्तु सुई पग में गड़ने न पाई और सरसों की ढेरी बिखरी नहीं!!! तत्त्वविवेक पृष्ठ २२८—इसी कोशा वेश्या के साथ एक स्थूलमुनि ने १२ वर्ष तक भोग किया और पश्चात् दीक्षा लेकर सद्गति को गया और कोशा वेश्या भी जैन धर्म को पालती हुई सद्गति को गई। विवेकसार पृष्ठ १९५—एक सिद्ध की कन्था जो गले में पहिनी जाती है वह ५०० अशर्फी एक वैश्य को नित्य देती रही। विवेकसार पृष्ठ २२८—बलवान् पुरुष की आज्ञा, देव की आज्ञा, घोर वन में कष्ट से निर्वाह, गुरु के रोकने, माता, पिता, कुलाचार्य्य, ज्ञातीय लोग और धर्मोपदेष्टा इन छः के रोकने से धर्म में न्यूनता होने से धर्म की हानि नहीं होती।

(समीक्षक) अब देखिये इन की मिथ्या बातें। एक मनुष्य ग्राम के बराबर पाषाण की शिला को अंगुली पर कभी धर सकता है? और पृथिवी के ऊपर अंगूठे

से दबाने से पृथिवी कभी दब सकती है? और जब शेषनाग ही नहीं तो कंपेगा कौन? ॥ २॥ भला शरीर के काटने से दूध निकलना किसी ने नहीं देखा। सिवाय इन्द्रजाल के दूसरी बात नहीं। उस को काटने वाला सर्प तो स्वर्ग में गया और महात्मा श्रीकृष्ण आदि तीसरे नरक को गये यह कितनी मिथ्या बात है?॥ ३। ४॥ जब महावीर के पग पर खीर पकाई तब उसके पग जल क्यों न गये?॥ ५॥ भला छोटे से पात्र में कभी ऊंट आ सकता है॥ ६॥ जो शरीर का मैल नहीं उतारते और न खुजलाते होंगे वे दुर्गन्धरूप महानरक भोगते होंगे॥ ७॥ जिस साधु ने नगर जलाया उस की दया और क्षमा कहां गई? जब महावीर के संग से भी उस का पवित्र आत्मा न हुआ तो अब महावीर के मरे पीछे उस के आश्रय से जैन लोग कभी पवित्र न होंगे॥ ८॥ राजा की आज्ञा माननी चाहिये परन्तु जैन लोग बनिये हैं इसलिये राजा से डर कर यह बात लिख दी होगी॥ ९॥ कोशा वेश्या चाहे उस का शरीर कितना ही हल्का हो तो भी सरसों की ढेरी पर सुई खड़ी करके उसके ऊपर नाचना, सूई का न छिदना और सरसों का न बिखरना अतीव झूठ नहीं तो क्या है?॥ १०॥ धर्म किसी को किसी अवस्था में भी न छोड़ना चाहिये; चाहे कुछ भी हो जाय॥११॥ भला कन्था वस्त्र का होता है वह नित्यप्रति ५०० अशर्फी किस प्रकार दे सकता है? ॥ १२॥

अब ऐसी-ऐसी असम्भव कहानी इनकी लिखें तो जैनियों के थोथे पोथों के सदृश बढ़ जाय इसलिये अधिक नहीं लिखते। अर्थात् थोड़ी सी इन जैनियों की बातें छोड़ के शेष सब मिथ्या जाल भरा है। देखिये—

दो ससि दो रवि पढमे। दुगुणा लवणंमि धायई संडे।
बारस ससि बारस रवि। तप्पमि इं निदिठ ससि रविणो॥
तिगुणा पुब्बिल्लजया। अणंतराणंतरं मिखित्तमि।
कालो ए बयाला। बिसत्तरी पुरकर द्वंमि॥

—प्रकरण भाग ४। संग्रहणीसूत्र ७७, ७८॥

जो जम्बूद्वीप लाख योजन अर्थात् ४ लाख कोश का लिखा है उन में यह पहला द्वीप कहाता है। इस में दो चन्द्र और सूर्य्य हैं और वैसे ही लवण समुद्र में उससे दुगुणे अर्थात् ४ चन्द्रमा और चार सूर्य्य हैं तथा धातकीखण्ड में बारह चन्द्रमा और बारह सूर्य्य हैं॥ ७७॥ और इन को तिगुणा करने से छत्तीस होते हैं, उनके साथ दो जम्बूद्वीप के और चार लवण समुद्र के मिलकर ब्यालीस चन्द्रमा और ब्यालीस सूर्य्य कालोदधि समुद्र में हैं। इसी प्रकार अगले-अगले द्वीप और समुद्रों में पूर्वोक्त ब्यालीस को तिगुणा करें तो एक सौ छब्बीस होते हैं। उन में धातकीखण्ड के बारह, लवण समुद्र के ४ चार और जम्बूद्वीप के जो दो-दो इसी रीति से निकाल कर १४४ एक सौ चवालीस चन्द्र और १४४ सूर्य्य पुष्करद्वीप में हैं। यह भी आधे मनुष्यक्षेत्र की गणना है। परन्तु जहां तक मनुष्य नहीं रहते हैं वहां बहुत से सूर्य्य और बहुत से चन्द्र हैं और जो पिछले अर्ध पुष्करद्वीप में बहुत चन्द्र और सूर्य्य हैं वे स्थिर हैं। पूर्वोक्त एक सौ चवालीस को तिगुणा करने से ४३२ और उन में पूर्वोक्त जम्बूद्वीप के दो चन्द्रमा, दो सूर्य्य, चार-चार लवण समुद्र के और बारह-बारह धातकीखण्ड के और ब्यालीस कालोदधि के मिलाने से ४९२ चन्द्रमा तथा ४९२ सूर्य्य पुष्कर समुद्र में हैं। ये सब बातें **श्रीजिनभद्रगणीक्षमाश्रमण** ने बड़ी **'संघयणी'** में तथा **'योतीसकरण्डक पयन्ना'** मध्ये और **'चन्द्रपन्नति'** तथा **'सूरपन्नति'** प्रमुख

सिद्धान्तग्रन्थों में इसी प्रकार कहा है॥ ७८॥

(समीक्षक) अब सुनिये भूगोल खगोल के जानने वालो! इस एक भूगोल में एक प्रकार ४९२ चार सौ बानवे और दूसरी प्रकार असंख्य चन्द्र और सूर्य्य जैनी लोग मानते हैं। आप लोगों का बड़ा भाग्य है कि वेदमतानुयायी **सूर्य्यसिद्धान्तादि** ज्योतिष ग्रन्थों के अध्ययन से ठीक-ठीक भूगोल खगोल विदित हुए। जो कहीं जैन के महा अन्धेर मत में होते तो जन्मभर अन्धेर में रहते जैसे कि जैनी लोग आजकल हैं। इन अविद्वानों को यह शंका हुई कि जम्बूद्वीप में एक सूर्य और एक चन्द्र से काम नहीं चलता क्योंकि इतनी बड़ी पृथिवी को तीस घड़ी में चन्द्र, सूर्य कैसे आ सकें? क्योंकि पृथिवी को ये लोग सूर्यादि से भी बड़ी और स्थिर मानते हैं यही इन की बड़ी भूल है।

दो ससि दो रवि पंती एगंतरिया छसठि संखाया।
मेरुं पयाहिणंता। माणुसखित्ते परिअडंति॥

—प्रकरण०भाग ४। संग्रहणी सू० ७९॥

मनुष्यलोक में चन्द्रमा और सूर्य की पंक्ति की संख्या कहते हैं। दो चन्द्रमा और दो सूर्य की पंक्ति (श्रेणी) हैं, वे एक-एक लाख योजन अर्थात् चार लाख कोश के आंतरे से चलते हैं। जैसे सूर्य की पंक्ति के आंतरे एक पंक्ति चन्द्र की है इसी प्रकार चन्द्रमा की पंक्ति के आंतरे सूर्य की पंक्ति है। इसी रीति से चार पंक्ति हैं वे एक-एक चन्द्र पंक्ति में ६६ चन्द्रमा और एक-एक सूर्य पंक्ति में ६६ सूर्य हैं। वे चारों पंक्ति जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करती हुई मनुष्य-क्षेत्र में परिभ्रमण करती हैं अर्थात् जिस समय जम्बूद्वीप के मेरु से एक सूर्य दक्षिण दिशा में विहरता उस समय दूसरा सूर्य उत्तर दिशा में फिरता है। वैसे ही लवण समुद्र की एक-एक दिशा में दो-दो चलते फिरते। धातकीखण्ड के ६, कालोदधि के २१, पुष्करार्द्ध के ३६, इस प्रकार सब मिलकर ६६ सूर्य दक्षिण दिशा और ६६ सूर्य उत्तर दिशा में अपने-अपने क्रम से फिरते हैं। और जब इन दोनों दिशा के सब सूर्य मिलाये जायें तो १३२ सूर्य और ऐसे ही छासठ-छासठ चन्द्रमा की दोनों दिशाओं की पंक्तियां मिलाई जायें तो १३२ चन्द्रमा मनुष्यलोक में चाल चलते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा के साथ नक्षत्रादि की भी पंक्तियां बहुत सी जाननीं॥ ७९॥

(समीक्षक) अब देखो भाई! इस भूगोल में १३२ सूर्य और १३२ चन्द्रमा जैनियों के घर पर तपते होंगे! भला जो तपते होंगे तो वे जीते कैसे हैं? और रात्रि में भी शीत के मारे जैनी लोग जकड़ जाते होंगे? ऐसी असम्भव बात में भूगोल, खगोल के न जानने वाले फंसते हैं; अन्य नहीं। जब एक सूर्य इस भूगोल के सदृश अन्य अनेक भूगोलों को प्रकाशता है तब इस छोटे से भूगोल की क्या कथा कहनी। और जो पथिवी न घूमे और सूर्य पृथिवी के चारों और घूमे तो कई एक वर्षों का दिन और रात होवे। और सुमेरु विना हिमालय के दूसरा कोई नहीं। यह सूर्य के सामने ऐसा है कि जैसे घड़े के सामने राई का दाना भी नहीं। इन बातों को जैनी लोग जब तक उसी मत में रहेंगे तब तक नहीं जान सकते किन्तु सदा अन्धेरे में रहेंगे।

सम्मत्तचरण सहिया सव्वं लोगं फुसे निरवसेसं।
सत्तय चउदस भाए पंचय सुयदेशविरईए॥

—प्रकरण०भा० ४। संग्रहणी सू० १३५॥

सम्यक्चारित्र सहित जो केवली वे केवल समुद्घात अवस्था से सर्व चौदह राज्यलोक अपने आत्मप्रदेश करके फिरेंगे॥ १३५ ॥

(समीक्षक) जैनी लोग १४ चौदह राज्य मानते हैं। उन में से चौदहवें की शिखा पर सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर थोड़े दूर पर सिद्धशिला तथा दिव्य आकाश को शिवपुर कहते हैं। उस में केवली अर्थात् जिन को केवलज्ञान सर्वज्ञता और पूर्ण पवित्रता प्राप्त हुई है वे उस लोक में जाते हैं और अपने आत्मप्रदेश में सर्वज्ञ रहते हैं। जिस का प्रदेश होता है वह विभु नहीं, जो विभु नहीं वह सर्वज्ञ केवलज्ञानी कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जिस का आत्मा एकदेशी है वही जाता आता है और बद्ध, मुक्त, ज्ञानी, अज्ञानी होता है। सर्वव्यापी सर्वज्ञ वैसा कभी नहीं हो सकता। जो जैनियों के तीर्थङ्कर जीवरूप अल्प, अल्पज्ञ होकर स्थित थे, वे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकते। किन्तु जो परमात्मा अनाद्यनन्त, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, पवित्र, ज्ञानस्वरूप है उस को जैनी लोग मानते नहीं कि जिस में सर्वज्ञादि गुण याथातथ्य घटते हैं।

गब्भनर तिपलियाऊ। तिगाऊ उक्कोस ते जहन्नेणं।
मुच्छिम दुहावि अन्तमुहु। अंगुल असंख भागतणू॥ –संग्रहणी० २४१ ॥

यहां मनुष्य दो प्रकार के हैं। एक गर्भज, दूसरे जो गर्भ के विना उत्पन्न हुए। उन में गर्भज मनुष्य का उत्कृष्ट तीन पल्योपम का आयु जानना और तीन कोश का शरीर॥ २४१ ॥

(समीक्षक) भला तीन पल्योपम का आयु और तीन कोश के शरीर वाले मनुष्य इस भूगोल में बहुत थोड़े समा सकें और फिर तीन पल्योपम की आयु जैसा कि पूर्व लिख आये हैं उतने समय तक जीवें तो वैसे ही उन के सन्तान भी तीन-तीन कोश के शरीर वाले होने चाहिये। इन जैसे 'मुम्बई' से शहर में दो और 'कलकत्ता' ऐसे शहर में तीन वा चार मनुष्य निवास कर सकते हैं। जो ऐसा है तो जैनियों ने एक नगर में लाखों मनुष्य लिखे हैं तो उनके रहने का नगर भी लाखों कोशों का होना चाहिये तो सब भूगोल में वैसा एक नगर भी न बस सके।

पणयाल लरकजोयण विरकंभा सिद्धिसिल फलिह विमला।
तदुवरि गजोयणंते लोगंतो तच्छ सिद्धठिई॥२५८॥

जो सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा से ऊपर १२ योजन सिद्धशिला है वह वाटला और लम्बेपन और पोलपन में ४५ पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है वह सब धवला अर्जुन सुवर्णमय स्फटिक के समान निर्मल सिद्धशिला की सिद्धभूमि है। इस को कोई 'ईषत्' 'प्राग्भरा' ऐसा नाम कहते हैं। यह सर्वार्थसिद्धशिला विमान से १२ योजन अलोक भी है। यह परमार्थ केवली बहुश्रुत जानता है। यह सिद्धशिला सर्वार्थ, मध्य भाग में ८ योजन स्थूल है। वहां से ४ दिशा और ४ उपदिशा में घटती-घटती मक्खी के पांख के सदृश पतली उत्तानछत्र और आकार करके सिद्धशिला की स्थापना है। उस शिला से ऊपर १ एक योजन के आंतरे लोकान्त है। वहां सिद्धों की स्थिति है॥ २५८ ॥

(समीक्षक) अब विचारना चाहिये कि जैनियों के मुक्ति का स्थान सर्वार्थसिद्धि विमान की ध्वजा के ऊपर ४५ पैंतालीस लाख योजन की शिला अर्थात् चाहैं ऐसी अच्छी और निर्मल हो तथापि उसमें रहने वाले मुक्त जीव एक प्रकार

के बद्ध हैं क्योंकि उस शिला से बाहर निकलने में मुक्ति के सुख से छूट जाते होंगे। और जो भीतर रहते होंगे तो उन को वायु भी न लगता होगा। यह केवल कल्पनामात्र अविद्वानों को फंसाने के लिये भ्रमजाल है।

वि ति चउरिंदिस सरीरं । बारस जोयणं तिकोस चउकोसं।
जोयण सहसपणिंदिय। उहे वुच्छंत विसेसंतु॥

—प्रकरण०भा० ४। संग्रह० सू० २६७॥

सामान्यपन से एकेन्द्रिय का शरीर १ सहस्र योजन के शरीर वाला उत्कृष्ट जानना और दो इन्द्रिय वाले जो शङ्खादि उन का शरीर १२ योजन का जानना। वैसे ही कीड़ी मकोड़ादि तीन इन्द्रिय वालों का शरीर ३ कोश का जानना। और चतुरिन्द्रिय भ्रमरादि का शरीर ४ कोश का और पञ्चेन्द्रिय का एक सहस्र योजन अर्थात् ४ सहस्र कोश के शरीर वाले जानना॥ २६७॥

(समीक्षक) चार-चार सहस्र कोश के प्रमाण वाले शरीर वाले हों तो भूगोल में तो बहुत थोड़े मनुष्य अर्थात् सैकड़ों मनुष्यों से भूगोल ठस भर जाय। किसी की चलने की जगह भी न रहै फिर वे जैनियों से रहने का ठिकाना और मार्ग पूछें जो इन्होंने लिखा है तो अपने घर में रख लें। परन्तु चार सहस्र कोश के शरीर वाले को निवासार्थ कोई एक के लिए ३२ बत्तीस सहस्र कोश का घर तो चाहिये। ऐसे एक घर के बनवाने में जैनियों का सब धन चुक जाय तो भी घर न बन सके। इतने बड़े आठ सहस्र कोश की छत बनवाने के लिये लट्ठे कहां से लावेंगे? और जो उसमें खम्भा लगावें तो वह भीतर प्रवेश भी नहीं कर सकता। इसलिये ऐसी बातें मिथ्या हुआ करती हैं।

ते थूला पल्ले विहु संखिज्जाचे बहुंति सव्वेवि।
ते इक्किक्क असंखे । सुहुमे खम्भे पकप्पेह॥

—प्रकरण०भा० ४। लघुक्षेत्रसमासप्रकरण सूत्र ४॥

पूर्वोक्त एक अंगुल लोम के खण्डों से ४ कोश का चौरस और उतना ही गहिरा कुआ हो। अंगुल प्रमाण लोम का खण्ड सब मिल के बीस लाख सत्तावन सहस्र एक सौ बावन होते हैं और अधिक से अधिक (३३०, ७६२१०४, २४६५६२५, ४२१९९६०, ९७५३६००, ०००००००) तैंतीस क्रोड़ाक्रोड़ी, सात लाख बासठ हजार एक सौ चार क्रोड़ाक्रोड़ी; चौबीस लाख पैंसठ हजार छः सौ पच्चीस इतने क्रोड़ाक्रोड़ी तथा ब्यालीस लाख उन्नीस हजार नौ सौ साठ इतनी क्रोड़ाक्रोड़ी तथा सत्तानवे लाख त्रेपन हजार और छः सौ क्रोड़ाक्रोड़ी, इतनी वाटला घन योजन पल्योपम में सर्व स्थूल रोम खण्ड की संख्या होवे यह भी संख्यातकाल होता है। पूर्वोक्त एक लोम खण्ड के असंख्यात खण्ड मन से कल्पे तब असंख्यात सूक्ष्म रोमाणु होवें।

(समीक्षक) अब देखिये इन की गिनती की रीति! एक अंगुल प्रमाण लोम के कितने खण्ड किये यह कभी किसी की गिनती में आ सकते हैं? और उस के उपरान्त मन से असंख्य खण्ड कल्पते हैं इससे यह भी सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त खण्ड हाथ से किये होंगे। जब हाथ से न हो सके तब मन से किये। भला! यह बात कभी सम्भव हो सकती है कि एक अंगुल रोम के असंख्य खण्ड हो सकें?

जम्बूद्वीपपमाणं गुलजोयणलरक वट्टविरकंभी।
लवणाई यासेसा। बलयाभा दुगुण दुगुणाय॥

—प्रकरण०भा० ४। लघुक्षेत्रसमा० सू० १२॥

प्रथम जम्बूद्वीप का लाख योजन का प्रमाण और पोला है और बाकी लवणादि सात समुद्र, सात द्वीप, जम्बूद्वीप के प्रमाण से दुगणे-दुगणे हैं। इस एक पृथिवी में जम्बूद्वीपादि सात द्वीप और सात समुद्र हैं जैसे पूर्व लिख आये हैं॥ १२॥

(समीक्षक) अब जम्बूद्वीप से दूसरा द्वीप दो लाख योजन, तीसरा चार लाख योजन, चौथा आठ लाख योजन, पांचवां सोलह लाख योजन, छठा बत्तीस लाख योजन और सातवाँ चौसठ लाख योजन और उतने प्रमाण वा उन से अधिक समुद्र के प्रमाण से इस पन्द्रह सहस्र परिधि वाले भूगोल में क्योंकर समा सकते हैं। इससे यह बात केवल मिथ्या है।

कुरु नइ चुलसी सहसा। छच्चेवन्तरनईउ पइ विजयं।
दो दो महा नईउ। चउदस सहसाउ पत्तेयं॥

—प्रकरणरत्ना०भा० ४। लघुक्षेत्रसमा० सू० ६३॥

कुरुक्षेत्र में ८४ चौरासी सहस्र नदी हैं॥ ६३॥

(समीक्षक) भला कुरुक्षेत्र बहुत छोटा देश है, उस को न देख कर एक मिथ्या बात लिखने में इन को लज्जा भी न आई।

जामुत्तराउ ताउ। इगेग सिंहासणाउ अइपुब्वं।
चउसुवि तासु नियासण, दिसि भवजिण मज्जणं होई॥

—प्रकरणरत्नाकर भा० ४। लघुक्षेत्रसमा० सू० ११९॥

उस शिला के विशेष दक्षिण और उत्तर दिशा में एक-एक सिंहासन जानना चाहिये। उन शिलाओं के नाम दक्षिण दिशा में अति पाण्डु कम्बला, उत्तर दिशा में अति रक्त कम्बला शिला हैं। उन सिंहासनों पर तीर्थङ्कर बैठते हैं॥ ११९॥

(समीक्षक) देखिये इन के तीर्थङ्कर के जन्मोत्सवादि करने की शिला को! ऐसी ही मुक्ति की सिद्धशिला है। ऐसी इन की बहुत सी बातें गोलमाल हैं; कहां तक लिखें? किन्तु जल छान के पीना और सूक्ष्म जीवों पर नाम मात्र दया करना; रात्रि को भोजन न करना ये तीन बातें अच्छी हैं। बाकी जितना इन का कथन है सब असम्भवग्रस्त है।

इतने ही लेख से बुद्धिमान् लोग बहुत सा जान लेंगे, थोड़ा सा यह दृष्टान्तमात्र लिखा है। जो इनकी असम्भव बातें सब लिखें तो इतने पुस्तक हो जायें कि एक पुरुष आयु भर में पढ़ भी न सके। इसलिये जैसे एक हण्डे में चुड़ते चावलों में से एक चावल की परीक्षा करने से कच्चे वा पक्के हैं सब चावल विदित हो जाते हैं। ऐसे ही इस थोड़े से लेख से सज्जन लोग बहुत सी बातें समझ लेंगे। बुद्धिमानों के सामने बहुत लिखना आवश्यक नहीं। क्योंकि दिग्दर्शनवत् सम्पूर्ण आशय को बुद्धिमान् लोग जान ही लेते हैं।

इसके आगे ईसाइयों के मत के विषय में लिखा जायेगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते नास्तिकमतान्तर्गतचार्वाक
बौद्धजैनमतखण्डनमण्डनविषये
द्वादशः समुल्लासः सम्पूर्णः॥ १२॥

अनुभूमिका (३)

जो यह बाइबल का मत है कि वह केवल ईसाइयों का है सो नहीं किन्तु इससे यहूदी आदि भी गृहीत होते हैं। जो यहां तेरहवें समुल्लास में ईसाई मत के विषय में लिखा है इसका यही अभिप्राय है कि आजकल बाइबल के मत में ईसाई मुख्य हो रहे हैं और यहूदी आदि गौण हैं। मुख्य के ग्रहण से गौण का ग्रहण हो जाता है, इससे यहूदियों का भी ग्रहण समझ लीजिये। इनका जो विषय यहां लिखा है सो केवल बाइबल में से कि जिसको ईसाई और यहूदी आदि सब मानते हैं और इसी पुस्तक को अपने धर्म का मूल कारण समझते हैं।

इस पुस्तक के भाषान्तर बहुत से हुए हैं जो कि इनके मत में बड़े-बड़े पादरी हैं उन्हीं ने किये हैं। उनमें से देवनागरी व संस्कृत भाषान्तर देख कर मुझको बाइबल में बहुत सी शंका हुई हैं। उनमें से कुछ थोड़ी सी इस १३ तेरहवें समुल्लास में सब के विचारार्थ लिखी हैं। यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये है न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ ही। इसका अभिप्राय उत्तर लेख में सब कोई समझ लेंगे कि यह पुस्तक कैसा है और इनका मत भी कैसा है? इस लेख से यही प्रयोजन है कि सब मनुष्यमात्र को देखना, सुनना, लिखना आदि करना सहज होगा और पक्षी, प्रतिपक्षी होके विचार कर ईसाई मत का आन्दोलन सब कोई कर सकेंगे। इससे एक यह प्रयोजन सिद्ध होगा कि मनुष्यों को धर्मविषयक ज्ञान बढ़ कर यथायोग्य सत्याऽसत्य मत और कर्त्तव्याकर्त्तव्य कर्म सम्बन्धी विषय विदित होकर सत्य और कर्त्तव्य कर्म का स्वीकार, असत्य और अकर्त्तव्य कर्म का परित्याग करना सहजता से हो सकेगा।

सब मनुष्यों को उचित है कि सब के मतविषयक पुस्तकों को देख समझ कर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें; नहीं तो सुना करें। क्योंकि जैसे पढ़ने से पण्डित होता है वैसे सुनने से बहुश्रुत होता है। यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सके तथापि आप स्वयं तो समझ ही जाता है। जो कोई पक्षपातरूप यानारूढ़ होके देखते हैं उनको न अपने और न पराये गुण, दोष विदित हो सकते हैं। **मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्याऽसत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। जितना अपना पठित वा श्रुत है उतना निश्चय कर सकता है।** यदि एक मत वाले दूसरे मतवाले के विषयों को जानें और अन्य न जानें तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी किसी भ्रमरूप बाड़े में गिर जाते हैं। ऐसा न हो इसलिये इस ग्रन्थ में, प्रचरित सब मतों का विषय थोड़ा-थोड़ा लिखा है। इतने ही से शेष विषयों में अनुमान कर सकता है कि वे सच्चे हैं वा झूठे? जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं वे तो सब में एक से हैं। झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा और दूसरा झूठा हो तो भी कुछ थोड़ा सा विवाद चलता है। यदि वादी प्रतिवादी सत्याऽसत्य निश्चय के लिये वाद प्रतिवाद करें तो अवश्य निश्चय हो जाये।

अब मैं इस १३वें समुल्लास में ईसाई मत विषयक थोड़ा सा लिख कर सब के सम्मुख स्थापित करता हूं; विचारिये कि कैसा है।

अलमतिलेखेन विचक्षणवरेषु।